ISSN : 2231-0509
वर्ष 21/अंक 2/मार्च-अप्रैल, 2019

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

वर्ष 21/अंक 2/मार्च-अप्रैल, 2019

प्रधान संपादक रोहित धनकर

संपादक प्रमोद

प्रबंधक रीना दास

कला पक्ष रामकिशन अडिग

कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन ख्यालीराम स्वामी

संपर्क

शिक्षा विमर्श

दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,

जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान

फोन : (0141) 2750310

मोबाईल नं. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)

ई मेलः shikshavimarsh@digantar.org

वेबसाइटः www.digantar.org

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	संस्थागत
एक प्रति	55	80
वार्षिक	300	450
द्वि-वर्षीय	550	850
तीन-वर्षीय	750	1200
आजीवन	3000	4500

(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए प्रतिवर्ष 100 रुपये अतिरिक्त भिजवाएं)

ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें

'शिक्षा विमर्श' के लिए सभी भुगतान 'दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर' (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।

अनुक्रम

संपादकीय

नीति और क्रियान्वयन में विरोधाभास 3

❑ प्रमोद

व्याख्यान

मानविकी और शिक्षा 4

❑ हिमांशु पण्ड्या

लेख

क्या शिक्षा शांति में सहायक हो सकती है ?

भाग-II 17

❑ कृष्ण कुमार

शिक्षा का समाजशास्त्र

शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-VI

शिक्षा का वेबरवादी समाजशास्त्र 22

❑ अमन मदान

मीमांसा

प्रस्तावित शिक्षा नीति : संभावनाएं और चुनौतियां 28

❑ ऋषभ कुमार मिश्र

लेख

बचपन और साहित्य 33

❑ प्रभात

पुस्तक समीक्षा

सिद्ध अर्थ : एक सामूहिक यात्रा की स्मृतियां 40

❑ राजाराम भादू

मुख्य आवरण चित्र : हेनरिख हिर्ट, जर्मन कलाकार

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिन्टर्स, 1/398 पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

नीति और क्रियान्वयन में विरोधाभास

अपने दूसरे कार्यकाल में सत्ता में आने के बाद सरकार की शिक्षा के लिए पहली मुख्य घोषणा शिक्षा नीति 2019 का मसौदा सार्वजनिक करना थी। इस मसौदे का जोर इस बात पर था कि अगले 10 वर्षों में शिक्षा पर केन्द्र सरकार के खर्च को दो गुना कर दिए जाने की जरूरत है। मगर 2019 के बजट के आंकड़े इस मंशा से इत्तेफाक नहीं रखते। बजट के आंकड़े लगभग अंतरिम बजट के आंकड़ों का दोहराव भर हैं। इनमें शिक्षा के खर्च को बढ़ाने की जरूरत नहीं झलकती। इस वर्ष शिक्षा का बजट देखें तो उसके हिस्से केन्द्रीय बजट का 3.4 प्रतिशत हिस्सा आया है और जीडीपी के रूप में देखें तो यह 0.45 प्रतिशत है (अंतरिम बजट में भी इतना ही था)। अगर हम वर्ष 2014-15 के आंकड़ों को देखें तो उस वक्त यह खर्च केन्द्रीय बजट का 4.1 प्रतिशत था और जीडीपी का 0.55 प्रतिशत था। उसके बाद के वर्षों में कभी भी यह इस आंकड़े को नहीं छू पाया है बल्कि इसके नीचे ही रहा है। नई शिक्षा नीति का मसौदा ज्ञान आधारित समाज रचने का ख्वाब बुनता है इसे हकीकत में उतारने के लिए जो संसाधन चाहिए उनकी नज़र से अगर देखा जाए तो बजट उस पटरी पर आगे की दिशा लेता नहीं दिखता।

नई शिक्षा नीति का मसौदा पूर्व प्राथमिक शिक्षा व उच्च माध्यमिक शिक्षा (कक्षा 12 तक) को 'मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा अधिनियम' (आरटीई) के दायरे में लाने की अनुशंसा करता है मगर वित्त मंत्री के बजट भाषण में इस बात का कोई जिक्र नहीं मिलता है। सरकार ने सर्वशिक्षा अभियान, माध्यमिक शिक्षा अभियान, व शिक्षक शिक्षा को मिला कर पूर्व प्राथमिक से लेकर उच्च माध्यमिक तक की शिक्षा को एक ही दायरे में लाने के लिए वर्ष 2018-19 में समग्र शिक्षा अभियान की शुरुआत की है लेकिन इसके लिए आवंटित बजट को अगर देखा जाए तो समझ आता है कि यह पुरानी अलग-अलग योजनाओं को आवंटित बजट को एक बजट में समाहित कर देना भर है।

शिक्षा नीति 2019 का मासौदा उच्च शिक्षा में शोध को बढ़ावा देने व भारत को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उच्च शिक्षा के एक केन्द्र के रूप में स्थापित करने के ख्वाब संजोता है। इस ख्वाब की हकीकत क्या है इसे हम नीचे दिए गए आंकड़ों की मदद से आसानी से समझ सकते हैं।

वर्ष 2018 में भारतीय शिक्षा संस्थानों में खाली पद

संस्थान का नाम	भरे पद	खाली पद
केन्द्रीय विश्वविद्यालय	11486	5606
आईआईटी	5428	2802
एनआईटी	4200	3235
आईआईटी केन्द्र द्वारा वित्त पोषित	173	135
आईआईटी पीपीपी द्वारा वित्त पोषित	86	242

स्रोत : सीबीजीए द्वारा प्रस्तुत बजट विश्लेषण आंकड़े

41 केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में 5606 रिक्त पदों का यह आंकड़ा वित्त मंत्री द्वारा बजट भाषण दिए जाने तक पहुंच कर 7000 हो चुका था। अब इससे ज्यादा कुछ कहे जाने की जरूरत नहीं रह गई है।

यह अंतराल नीति सुधारों व नीति क्रियान्वय के बीच की दूरी को दर्शाता है और दर्शाता है कि नीति सुधारों को उनके लिए जरूरी संसाधन मुहैया करवाना अभी कितनी बड़ी चुनौती बना हुआ हैं। ◆

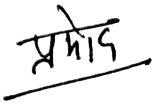

मानविकी और शिक्षा

हिमांशु पण्ड्या

मैं यह मानता हूं कि प्राथमिक शिक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाना ज्यादा मुश्किल काम है। हमसे ज्यादा मुश्किल काम आप करते हैं। मैं हमेशा उसे ज्यादा चुनौतीपूर्ण मानता हूं। हमारे देश में व्यवस्था का जो ढांचा है वह कुछ इस तरह का बना दिया गया है जिसमें विश्वविद्यालय के शिक्षकों को ज्यादा बुद्धिजीवी और ज्यादा तनख्वाह वाला बना दिया गया है। मेरे हिसाब से प्राथमिक शिक्षा के शिक्षक सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण काम करते हैं। मेरी हमेशा हसरत रही कि मैं यह काम कर पाऊं या कम से कम उसमें कुछ जुड़ पाऊं। इसके तहत पढ़ता रहता हूं, समझता रहता हूं, इस तरह के सत्रों में सहभागिता करता रहता हूं, यह पहली बात है।

दूसरी बात यह है कि अगर यह सत्र एक-डेढ़ बजे तक चलेगा तो मैं लगातार दो घण्टे आपको भाषण नहीं दूंगा। पहले तो यह नैतिक रूप से भी गलत है और दूसरा यह रणनीतिक रूप से भी गलत है। क्योंकि इसके बाद मेरा गला इस लायक नहीं रहेगा कि मैं कल फिर भाषण दे पाऊं। इसलिए मैं कोशिश यह करूंगा कि अगले आधा-पौन घण्टे आपसे थोड़ी-सी बात करूंगा और उसमें कुछ सवाल छोड़ूंगा कुछ बहस के मुद्दे छोड़ूंगा। कुछ सार्वजनिक स्थापित बाते हैं जो आप तक पहुंचनी चाहिए वो कहूंगा कुछ मेरे अपने विचार भी कहूंगा जिनमें कुछ बहस के लायक हो सकते हैं। और चाहूंगा कि आप मुझसे सवाल करें, बातचीत करें और हम मिलकर आपके सवालों के आधार पर बातचीत को किसी दिशा में ले जाएं।

जब मैंने 11वीं कक्षा पास की तो मुझे 11वीं के बाद 12वीं कक्षा में एडमिशन मिला। आप लोगों को याद होगा कि 12वीं कक्षा बाद में जोड़ी गई थी। मैं राजस्थान का पहला बैच था जिन्होंने 12वीं कक्षा पढ़ी। मुझसे पहले मेरी बड़ी बहन थी जो 11वीं पढ़कर 'फर्स्ट ईयर' में आ गई थी। मुझे मन में गुस्सा भी आता था कि मेरी बहन मुझसे दो साल आगे हो गई। मैंने अपने पिताजी से पूछा कि मुझे यह एक साल और क्यों पढ़ना है? मेरी बहन 11वीं पढ़कर फर्स्ट ईयर में आ गई और मैं अभी एक साल और बैठा हूं स्कूल में और स्कूल छूटा ही नहीं। स्कूल छूटने की बड़ी जल्दी होती है, आपको पता ही होगा! पिताजी ने कहा कि बेटा ज्ञान बहुत बढ़ रहा है। अब वो 11 कक्षाओं में समा नहीं रहा है इसलिए एक कक्षा बढ़ा दी गई है। क्योंकि बातें बढ़ गई हैं, सूचनाएं बढ़ गई है, जानकारियां बढ़ गई हैं, लोगों ने दुनिया को ज्यादा जाना है, विस्तार हुआ है ज्ञान का, ज्ञान का विस्तार हुआ है तो एक साल और बढ़ा दिया गया है। हालांकि मैं बहुत छोटा था लेकिन मुझे यह बात कुछ गड़बड़ लगी। मुझे लगा कि ज्ञान का विस्तार होने पर एक साल बढ़ गया है तो आगे 10, 15, 20 साल में ज्ञान का विस्तार होगा तो एक साल और बढ़ जाएगा। ऐसे ही अगर एक-एक साल बढ़ता जाएगा तो एक ऐसा समय आएगा कि विद्यार्थी पढ़ता ही रहेगा और ज्ञान पूरा ही नहीं होगा। क्योंकि वो पढ़ता जाएगा, पढ़ता जाएगा फिर भी उसे कहेंगे कि भई अभी तो ज्ञान बचा है आपके जानने के लिए। दरअसल तत्कालीन प्रधानमंत्री थे उन्होंने भी वही बात कही थी जो मेरे पिताजी ने कही थी। न मेरे पिता की गलती है और न उस समय के प्रधानमंत्री की गलती है। इन दोनों की गलती मैं नहीं बता रहा हूं। क्योंकि

ये उस समय की समझ थी। उस समय के शिक्षाशास्त्री यही मानते थे कि ज्ञान का विस्फोट हो रहा है। 80 के दशक के अन्त में यह मुहावरा था 'ज्ञान का विस्फोट'। ज्ञान का विस्फोट कुछ नहीं होता है। क्योंकि अगर आप इस तरह से सोचना शुरू करेंगे तो इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान कोई संचित राशि है, कोई भण्डार है, कोई संपत्ति है जिसे एक से दूसरे को दिया जा रहा है। मतलब एक पोटली है जो मैंने उठाकर अपने विद्यार्थी को दे दी और भविष्य में वह पोटली बढ़ती जाएगी, मोटी होती जाएगी, भारी होती जाएगी और ज्ञान का बोझा लादे-लादे विद्यार्थी चलता रहेगा। ऐसा नहीं होता। ज्ञान कोई संचित राशि नहीं है। क्योंकि अगर ज्ञान कोई संचित राशि है तो फिर यहां से वहां देने में ज्ञान कुछ घट जाएगा। जैसे सोने का यदि आप कुछ बनवाने जाएंगे तो थोड़ा-थोड़ा घट जाएगा। अगर ज्ञान कोई संचित राशि हो, तो एक से दूसरे के पास जाते-जाते कुछ कम हो जाएगी। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं जितना जानता हूं, मेरा विद्यार्थी उससे थोड़ा कम जानेगा, क्योंकि एक राशि थी जो मैंने उसको दी। पूरी की पूरी कौन दे पाता है तो थोड़ी कम मिलेगी उसको। उससे अगली पीढ़ी को थोड़ा और कम मिलेगी। तो ज्ञान घटता जाएगा। जबकि है उल्टा। शिक्षा का उद्देश्य है इसको बढ़ाना। ज्ञान संचित राशि नहीं है, ज्ञान एक सहभागी प्रक्रिया है। जिससे कि विद्यार्थी आगे बढ़ सके और वे कुछ चीजें जो मुझे नहीं पता थीं मेरा विद्यार्थी ढूंढ सके और उससे अगली पीढ़ी और ज्यादा। अगर ज्ञान संचित राशि होती तो मनुष्य आज भी पत्थर पर पत्थर रगड़कर आग जला रहा होता। हम जो इतने प्रयोग, इतने आविष्कार करके दुनिया को इतना आगे तक ला पाए वो किसी संचित राशि के बतौर नहीं ला पाए। (वैसे बाद में मुझे लगा कि 12वीं कक्षा जो लाई गई, उससे कुल मिलाकर फायदा हुआ। फायदा इसलिए हुआ कि हमने कॉलेज के स्तर पर जाने वाले विद्यार्थियों को एक साल देर से भेजा। तो उनका मानसिक स्तर और ज्यादा अच्छा हो पाया। मूल तर्क तो बिलकुल गड़बड़ था लेकिन दूसरी दृष्टि से यह बहुत अच्छा साबित हुआ। क्योंकि 11वीं तक शायद बच्चा थोड़ा कम फैसला ले पाता है कि उसे जीवन में क्या बनना है। एक साल और मिलता है तो थोड़ा अच्छे से सोच पाता है, कम से कम मैं अपने बचपन के आधार पर जानता हूं कि उस एक साल के अन्दर-अन्दर मैं काफी सारे फैसले ले पाया था।)

ज्ञान साथ-साथ मिलकर सीखने का और आगे बढ़ कर कुछ दूसरी चीजें ढूंढ़ पाने का नाम है, जिसमें मैं विद्यार्थी के साथ कुछ प्रयोग कर रहा हूं, जिसके आधार पर मैं जितना जान पाया वो उससे ज्यादा आगे कुछ जान सकता है। यदि मैंने जो दिया, वही उसने लिया हो आज्ञाकारी विद्यार्थी की तरह तो बात नहीं बनेगी। दुनिया आगे बढ़ती है असहमतियों से, बहसों से, संशोधन से। इसी का नाम शिक्षा है। कृष्ण कुमार जी ने अपने एक व्याख्यान में इसे गौतम बुद्ध के हवाले से समझाया है। गौतम बुद्ध ने इसके लिए यान का रूपक इस्तेमाल किया है। हीनयान, महायान, नवयान आपने सुने होंगे। यान का रूपक यानी पानी का यान। वायुयान की बात नहीं हो रही है, क्योंकि गौतम बुद्ध के समय वायुयान की परिकल्पना वैसे भी नहीं थी, यानी यह बात है नाव की। मुझे बहुत दिलचस्प उदाहरण लगता है तो मैं आपसे थोड़ा धैर्य से इसे समझने की दरख्वास्त करूंगा। दो लोग हैं गुरू और शिष्य और दोनों नदी के इस पार बैठे हैं। रूपक की तरह समझिए, नदी के उस पार ज्ञान है यानि जो उस पार पहुंचा उसने ज्ञान पा लिया। अब कई तरह के ज्ञान के रूप होते हैं। एक ज्ञान का रूप ऐसा होता है जिसमें जो उस पार गया वो इस पार नहीं आया। उस पार गया, ज्ञान पाया, वो ज्ञान बांटने का नहीं था, उसके अपने पाने का था। उदाहरण के लिए डॉक्टर, डॉक्टर जो पढ़ रहा है वो बाद में सबको पढ़ाने नहीं बैठा है। अपने ज्ञान का इस्तेमाल करके दुनिया की सेवा कर रहा है। वो उस पार चला गया है, उसको उस पार से लौटने की जरूरत नहीं है। लौटने की जरूरत है शिक्षक को। अब शिक्षक और विद्यार्थी में जो शिक्षक है वो उस पार हो आया है और विद्यार्थी अभी इसी पार है। शिक्षक को विद्यार्थी को यह समझाना है कि उस पार चलना है, पार बहुत खूबसूरत है, उस पार एक नखलिस्तान है, इस पार से उस पार ज्यादा हरियाली है, उस पार एक सुन्दर संसार है। लेकिन विद्यार्थी को शिक्षक कैसे समझाएगा जब विद्यार्थी ने उस पार क्या है कभी देखा नहीं है। जो देखा ही नहीं उसको आप कैसे समझाएंगे कि वो कितना सुन्दर है। एच जी वेल्स एक बहुत प्रसिद्ध लेखक हैं, वो 'साइंस फैंटेसी' लिखते हैं। उन्होंने एक कहानी लिखी जिसमें एक आदमी गलती से अंधों के देश में चला जाता है। वहां पर सारे अंधे हैं, वहां वह उनको समझाने की कोशिश करता है कि आंखें कितनी बड़ी चीज है और कोई नहीं समझता उसकी बात। क्योंकि जिनके पास आंखें हैं ही नहीं उन्हें पता ही नहीं कि आंखें क्या होती है और

वो वहां जाके यह पाता है कि जिनके पास आंखें नहीं वो बिना आंखों के भी सब कुछ कर पा रहे हैं अच्छे से। उनकी अन्य इंद्रिया इतनी शक्तिशाली हैं कि वो आवाज से या गंध से या अन्य तरीकों से, किसी की आहट को, किसी के आने को, किसी के जाने को उससे पहले पकड़ लेते हैं। और ये जो सब अंधे हैं ये थोड़े-थोड़े दिनों में नायक के पपोटे टटोलते हैं। कहते हैं कि तुम्हारा ये गड़बड़ है। ये थोड़े उभरे-उभरे से हैं, ये ठीक करवाने पड़ेंगे ऑपरेशन करके। वो उनके हिसाब से बीमारी थी, जिसको ठीक करके वो उसे अपना जैसा करना चाहते थे। मेरा कहने का मतलब यह है कि जिसके पास जो नहीं है उसे उसका महत्व समझाना दुनिया का सबसे मुश्किल काम होता है। वो काम शिक्षक को करना होता है। क्योंकि उसे विद्यार्थी को जो उस पार की दुनिया है उसका वैशिष्ट्य बरकरार रखते हुए इस तरह से समझाना है कि उसको पाने की आकांक्षा उसके भीतर पैदा हो और उसे यह सामर्थ्य महसूस हो कि मैं यह कर सकता हूं। ध्यान दीजिए, मैंने तीन बातें कहीं हैं। पहली, उस दुनिया की सारी विशिष्टताएं जो हैं, वो समझा पाए। दूसरी, उसको उसकी भाषा में समझा पाए ताकि उसे वो महत्व समझ में आए और तीसरी, वो उसके अन्दर यह इच्छा और उत्साह पैदा कर पाए कि मुझे उस पार जाना है। ये तीन काम शिक्षक के हैं।

समझाने में आप इतना डरा देंगे विद्यार्थी को कि उसको लगेगा कि रहने दो बाबा होगा बहुत अच्छा लेकिन मैं कैसे जाऊंगा! यह हमारे देश में होता है। अगर ड्रॉपआउट की संख्या आप देखें तो कितनी ज्यादा है, वह किसकी द्योतक है? इस देश में आत्महत्या करने वाले बच्चों की संख्या पांच गुणा ज्यादा छलांग लगा चुकी है। हमें इसकी गंभीरता को समझना होगा। इसके पीछे ऐसा नहीं कि एक ही कारण है, इसके पीछे बहुत सारे कारण हैं। यह भी कारण है कि रोजगार बहुत कम पैदा हो रहे हैं। जितने रोजगार पैदा होने चाहिए उसका 10वां हिस्सा भी नहीं पैदा हो रहे हैं। बेरोजगार घूम रहे लोग आत्म हत्या करेंगे, यह स्वाभाविक आशंका हो सकती है लेकिन स्कूल में पढ़ रहा बच्चा अगर आत्महत्या कर रहा है तो यह तो समझने की बात है कि रोजगार के संकट का उतना सामना उसको अभी तक नहीं करना पड़ रहा है कि वह आत्महत्या करने पर विवश हो जाए। उसको उस खौफनाक स्थिति का अंदाजा तो तब पड़ेगा ना जब वो बी.ए. या एम.ए. कर लेगा। क्योंकि हमारे देश में तो बच्चे 10वीं, 11वीं, 12वीं, बी.ए., एम.ए. बिना सोचे करते जाते हैं। मतलब पढ़ते जाना जब तक नौकरी के लिए खाली न हो जाएं कि अब सारी पढ़ाई कर ली और बाजार में हम खाली खड़े हैं, आओ हमें कोई नौकरी दे दो और कोई देने वाला नहीं होता है। इस खौफनाक स्थिति का सामना तो काफी बाद में करना पड़ता है। उस डर को क्या स्कूल के बच्चे पहले ही इतना महसूस कर रहे हैं कि वह आत्महत्या कर रहे हैं? मुझे लगता है कि ये डर असली कारण नहीं है, असली कारण है साथियों का दबाव, सब कुछ जान लेने का आग्रह और शिक्षा में सबसे आगे रहने की होड़, वो इतना दबाव पैदा कर रही है उनके भीतर कि वो आत्म हत्या कर रहे हैं। मतलब वो तात्कालिक दबाव ज्यादा हैं भविष्य का डर कम है, ऐसा मेरा मानना है।

मेरे विचार से इसका मुख्य कारण यही है कि हम लोगों ने सूचना को ज्ञान समझ लिया है। ये कब पैदा हुआ, वो कब पैदा हुआ, इसकी लड़ाई कब हुई, ये कब हुई, वो कब हुई। बचपन में एक चुटकुला हम सुनते थे कि अगर पानीपत की लड़ाई नहीं हुई होती तो क्या हुआ होता? बच्चे से पूछा गया तो बच्चे ने कहा कि हमारा हिस्ट्री का एक पाठ कम हो जाता। ये बहुत मार्मिक चुटकुला है। हमने ज्ञान में से जो आनन्द है उसको खत्म कर दिया है और जब हम सूचनाएं देते हैं तो हम कह भले ही देते हैं कि ज्ञान कोई संचित धन राशि नहीं है, कोई पोटली में बंधी हुई चीज नहीं है लेकिन व्यवहार में वही इस्तेमाल करते हैं कि हम पोटली में बंधा हुआ ज्ञान बांटते हैं- हां बच्चो नोट करो- इसने ये लिखा था, इसका लेखक यह था, फलानी लड़ाई तब हुई थी, ढिमाके ने फलाने को हराया था। भारत के चौथे प्रधानमंत्री ये थे, पांचवे राष्ट्रपति ये थे, महात्मा गांधी का जन्म तब हुआ था, महात्मा गांधी ने ये किया, उनकी माता का नाम ये था। बेचारे महात्मा गांधी होते तो सोचते कि मेरे कारण बच्चों को और ज्यादा पढ़ना पड़ गया। मैं नहीं होता तो यह पाठ घट जाता। मतलब महात्मा गांधी होते तो वाकई ऐसा ही सोचते क्योंकि वो बच्चों को इस तरह की शिक्षा देने के बिलकुल ही हिमायती नहीं थे। उसके लिए गांधी की बुनियादी तालीम को ठीक से जानना चाहिए। लेकिन हम लोग सूचनाओं को ज्ञान बना दे रहे हैं। और ऐसा करके पता है हम क्या कर रहे हैं? हम कालिदास की तरह उस पेड़ की डाली को काट रहे हैं जिस पर हम बैठे हुए हैं। ये बहुत बड़ा खतरा है और हम दुनिया के सबसे बड़े बेवकूफ साबित हो रहे हैं। ये समस्या अब धीरे-धीरे दिखने लग गई है। कम से कम बड़े शहरों के कॉलेजों में पढ़ाने वाले प्रोफेसर्स

को यह समस्या आने लग गई है। एक गूगल नाम की चीज है जो हर सवाल का जवाब दे देती है। बच्चा मोबाइल लेकर बैठता है कक्षा में और जो सवाल शिक्षक बोले, उसका जवाब उसके पास तैयार होता है और वो उससे आगे की चीज पूछता है जो शिक्षक को नहीं पता है। और शिक्षक खुद है जिसने ज्ञान का मतलब सूचना बना दिया है। इसलिए उसको सूचना नहीं पता होती है तो वह हक्का-बक्का रह जाता है और विद्यार्थी साबित कर देता है कि आपको तो कुछ नहीं आता। जबकि ऐसा है ही नहीं क्योंकि दुनिया का ऐसा कोई शिक्षक नहीं है जिसको सब कुछ आता हो। जो शिक्षक विद्यार्थी के सामने यह कह दे कि मुझे सब कुछ नहीं आता है, वही सबसे अच्छा शिक्षक है। लेकिन हम लोगों ने खुद ही यह साबित किया कि सूचना का मतलब ज्ञान है। हम ज्ञानी हैं क्योंकि हम तुमसे ज्यादा जानते हैं। तो जानने को तो जो चीज गूगल एक मिनिट में बता देता है, उसके लिए आपको क्यों रखेगी सरकार। भविष्य में गूगल ही पढ़ा दिया करेगा बच्चों को। ऑनलाईन क्लास चल जाएंगी। जो पढ़ना है पूछ लो, सिलेबस यह है, गूगल से पढ़ लो और नहीं तो लेक्चर चला देंगे। जिसमें हर चीज की सूचना मिल जाएगी। बच्चे सूचनाएं घोट लेंगे। घोट करके लाकर रख देंगे, खत्म। चलिए इसको छोड़िए, हम तो अभी उस तरह के आतंक का सामना नहीं कर रहे हैं ना, जैसा दिल्ली, मुम्बई के लेक्चरर्स कर रहे होंगे। उनका संकट है, हम पर तो अभी देर से आएगा। मतलब अगली दो-तीन पीढ़ी में आएगा। डायनोसोर मरे होंगे तो उनको थोड़े ही पता होगा कि वे मरने वाले हैं, लेकिन वो लुप्त हो गए क्योंकि वो बदलते समय के साथ अपने को नहीं ढाल पाए। यदि दो-चार पीढ़ी बाद यह शिक्षक नाम की संस्था डायनासोर की तरह खत्म हो भी जाए तो अपना टाइम तो निकल जाएगा। लेकिन आप सच बताइए, ईमानदारी से बताइये कि हम जो शहरों के नहीं छोटे कस्बों के शिक्षक हैं, हम लोगों के साथ भी यह नहीं होने लग गया है कि कक्षा में, रजिस्टर में लिखे हुए विद्यार्थियों की संख्या से बहुत कम संख्या होती है। यानी न आने वाले विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक होती है और परीक्षा के अन्त में जब नम्बर आते हैं तो न आने वाले विद्यार्थियों के नम्बरों से ऐसा बिलकुल नहीं लगता कि जिनको हमने पढ़ाया था, उनको हमने कुछ ज्यादा पढ़ा दिया था। क्योंकि एक पासबुक नाम की चीज है और उसके अलग-अलग संस्करण होते हैं। वनवीक सीरीज होती है और वनवीक सीरीज का भी एक अगला संस्करण होता है, अगर आप वनवीक सीरीज खोल के देखें तो उसमें आखिरी के तीन पेज होते हैं, जिनमें लिखा होता है आखिरी एक घण्टे में पढ़ने के बिन्दु। और विद्यार्थी एक दिन में वही पढ़ लेते हैं और नम्बर भी ठीक-ठाक आ जाते हैं। चतुर विद्यार्थी ऐसा पता नहीं लगने देते कि वो पूरे साल नहीं पढ़े थे, क्योंकि वो वनवीक सीरीज पढ़कर उतने ही नम्बर ले आते हैं। तो देखा जाए तो हम लोगों ने अपने को, शिक्षक नाम की संस्था को अप्रासंगिक बना दिया है। सब जानते हैं, बस कोई कह नहीं रहा है। अगर मैं गलत नहीं कह रहा हूं, तो हमें इस पर विचार करना चाहिए।

हमें कहना होगा कि सूचना का नाम ज्ञान नहीं है। गूगल सब कुछ नहीं दे सकता। गूगल से ज्यादा बहुत कुछ है जो हमारे पास है, जो हम ही दे सकते हैं। जो शिक्षक ही विद्यार्थी को पहुंचा सकता है, जिसको कोई कम्प्यूटर नहीं दे सकता। पर क्या हममें खुदको लेकर यह विश्वास है? सरकार अगर उस तरह के प्रयोग करना चाहे कि कल को अगर मेरे सालभर के लेक्चर रिकॉर्ड कर ले और अगले साल मुझे कह दे कि अब आप घर बिराजिये क्योंकि आपके पूरे साल के लेक्चर हमारे पास हैं। पहले दिन क्या पढ़ना है वो यहां पर बाजे की तरह टी.वी. चला दे। मैं बोल रहा हूंगा और बाकी सब बच्चे सुन लेंगे। बल्कि और भी सुविधा होगी कि यहां तो आप मुझे एक ही बार सुन रहे हैं वहां आप चार-चार बार सुनेंगे। नहीं समझेंगे तो रिवाइंड कर कर के सुनेंगे। क्या हम दावे के साथ कह पाने की स्थिति में हैं कि हमारी जरूरत तो बनी रहेगी। शिक्षक को आप हटा नहीं सकते। इस पूरी शिक्षा व्यवस्था में विद्यार्थी और पढ़ाई के बीच में शिक्षक नाम की अनिवार्य कड़ी को नहीं हटाया जा सकता। क्या हम यह दावा करने की स्थिति में हैं? यहां मानविकी की भूमिका आती है। मैंने यहां इतनी सारी भूमिका यही कहने के लिए बनाई कि यह जो मानविकी नाम का हमारा विषय है जो कोई अलग से एक विषय नहीं है, जिसमें साहित्य, कला, प्रदर्शन, संगीत, चित्रकला, स्थापत्य कला से लेकर इतिहास भी शामिल किया जाता है क्योंकि अंततः इतिहास भी मानवीय संबंधों का अध्ययन है और इसमें शामिल किया जाता है दर्शन। तो ये जो सारे विषय हैं जो समाजविज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान से अलग हैं, ये वे विषय हैं जो यह साबित करेंगे कि शिक्षक नाम की इस अनिवार्य कड़ी को कभी भी बीच में से हटाया नहीं जा सकता।

दरअसल एक विज्ञान के शिक्षक के सामने यह खतरा हो सकता है हालाकि वहां भी नहीं होता है। उस पर विस्तार से चर्चा हो सकती है, उस पर चर्चा कम करूंगा। अभी हम मानविकी पर बात करेंगे। अगर हम राजनीति विज्ञान या स्कूली नाम नागरिक शास्त्र या और छोटी कक्षाओं में प्रचलित शब्द पर्यावरण अध्ययन को लें, इसकी किताबों को आप ध्यान से देखेंगे और मैं एक साल की बात नहीं कर रहा हूं, अगर आप पिछले 20-30 साल की किताबें देखेंगे या अपने बुजुर्गों से बात करेंगे तो वो आपसे यह कहेंगे कि जो चीजें हम लोग 9वीं, 10वीं में पढ़ते थे वो आजकल के बच्चे 5वीं-6वीं में ही पढ़ लेते हैं। सिलेबस इतना सिकुड़ता जा रहा है। ठीक इसी तरह साइंस में भी वे बताएंगे कि जो फराडे का नियम यहां पढ़ते थे वो यहां आ गया। वो कौनसी आवर्त सारणी थी, वो हमने तो इस कक्षा में पढ़ी और आजकल के बच्चे तो देखो तीसरी में ही पढ़ लेंते हैं। मतलब जो 10वीं का है वो 6वीं में और 7वीं का है वो 3वीं में और 3वीं का है वो पहली में। जैसा मैंने कहा ज्ञान का विस्फोट है बहुत सारी चीजें शामिल करनी हैं। तो हमने सिकोड़ करके बच्चों को ज्यादा-ज्यादा देना शुरू किया। यह परिघटना आपको समाज विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान में ज्यादा देखने को मिलेगी। मानविकी अपनी प्रकृति के कारण इससे थोड़ा-सा बची रहती है। साहित्य की अपनी विषय प्रकृति ऐसी है कि अगर ज्ञान बढ़ गया है या कवि साहित्यकार ज्यादा हो गये हैं तो आप क्या करेंगे? आप पुराने कवियों के साथ-साथ नये दो-चार कवियों की भी कविताएं डाल देंगे। लेकिन कविताओं की संख्याएं तो उतनी ही रहेंगी जितनी साल भर में पढ़ाई जा सकती हैं। तो पाठ्यक्रम थोड़ा नवीनीकृत हो जाएगा लेकिन उसका बोझ नहीं बढ़ेगा। कविता की किताब का बोझ नहीं बढ़ा। कविता की किताब उतनी ही रहेगी जितनी हुआ करती थी, बस यह है कि उसमें थोड़ा-सा अज्ञेय की जगह मंगलेश डबराल आ गये या और थोड़े नये कवि आ गए। थोड़े पुराने कवियों में एक-दो कम कर दिए और नये उसमें जोड़ दिए। लेकिन हमने उस किताब का बोझा नहीं बढ़ाया है और ऐसा कोई सोच-समझकर नहीं किया गया था, यह तो विषय की प्रकृति ही ऐसी है। यही बात प्रदर्शनकारी कलाओं के बारे में कही जा सकती है। हो सकता है संगीत कोई पढ़ रहा हो तो उसका पाठ्यक्रम थोड़ा बढ़ जाए कि अब संगीत में 15 की जगह 24 राग आ गये हैं। लेकिन वो तो एक ही सैद्धांतिक पेपर होगा, कुल मिलाकर संगीत सीखने वाले विद्यार्थी के लिए बोझे के रूप में विषय नहीं बढ़ेगा। तो हमारा विषय जो था दरअसल उसने मूल रूप से इस स्थापना को शुरू से ही खारिज किया कि जो ज्ञान होता है वो कोई पोटली में बंधी हुई चीज होता है। ज्ञान क्या है? ज्ञान है चीजों को देखने की नई-नई दृष्टियों का आविष्कार करना। मैं कृष्ण कुमार जी की परिभाषा से बात बढ़ाना चाहूंगा कि आप संसार के सभी पदार्थों को एक नाम देते हैं उस नाम से उनका एक संबंध जोड़ते हैं, हमारी भाषा यह काम करती है और उसके साथ जब आप कोई संबंध जोड़ते हैं तो संबंध में आपके पूर्व अनुभव काम आते हैं। इसलिए प्रत्येक शब्द या प्रत्येक वस्तु को आप एक प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं। जब मैं कुर्सी बोलता हूं तो मेरे लिए कुर्सी शब्द का जो अर्थ है; प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके अपने जीवन की स्मृति और अनुभव के हिसाब से उसका एक अलग अर्थ है। कुर्सी शब्द से शायद बात इतनी स्पष्ट न हो लेकिन अगर हम किसी और शब्द की बात करें मसलन मैं बात करूं दरांती जो आपके खलिहान में काम आने वाला शब्द है उसे सुनकर के शायद मुझे उतनी स्फूर्ति नहीं होगी जितनी एक किसान के बच्चे को होगी क्योंकि वह शब्द उसकी स्मृतियों से जुड़ा हुआ है। तो हर शब्द को उसकी स्मृतियों के साथ ग्रहण करना सिखाना और उसके प्रतीकार्थ को ग्रहण करना और दूसरा अपने अगल-बगल के मनुष्यों के साथ एक संबंध बना पाना, पहचानना जैसे चीजों के साथ वैसे ही दूसरे स्तर पर मनुष्यों के साथ, यह सब शिक्षा के काम हुए - मानविकी इसलिए ही कहते हैं उसको और तीसरा चरण होता है उसके आगे वाला जिसमें मनुष्य-मनुष्य के भीतर झांकने की कोशिश करता है। पहला जानना और दूसरा उसके अंतरमन को जानना। ये जानने की कोशिश करना कि दूसरा मुझसे अलग क्या सोचता है या मैं जैसा सोचता हूं वैसा ही वो भी सोचता है या मुझसे कुछ अलग वो सोचता है या नहीं। अगर ये तीन चीजें हो जाती हैं तो उसके आधार पर चौथा चरण आता है और वो चौथा चरण ही है जिसके कारण मनुष्य नाम का यह जीव टिक पाया, ऐसा माना जाता है कि सृष्टि में रहने वाले अनेक जानवर हैं जो हमसे ज्यादा नजर रखते हैं, हमसे ज्यादा अच्छी गति रखते हैं, हमसे ज्यादा तेज चल सकते हैं, हमसे ज्यादा तेज कुछ भी काम कर सकते हैं। प्रत्येक चीज में हमसे तेज और हमसे आगे वाले बहुत सारे हैं उसके बावजूद मनुष्य ही यह क्यों कर पाया क्योंकि हम कार्यकारण के संबंध को संदर्भ के साथ जोड़ पाते हैं और वो उन दो चीजों के कारण संभव हो पाता है। वस्तुओं का नामकरण और उनके साथ अपने अनुभवों को जोड़ पाना। इन दो चीजों के कारण एक ऐसी

क्षमता विकसित हो पाती है जिसके कारण आप और हम या मनुष्य किसी घटना के पीछे कारणों को और उसके संभावित आगे के दूरगामी परिणामों का विश्लेषण कर पाने में संभव हो पाते हैं। और जब मैं यह कह रहा हूं कि मनुष्य यह विश्लेषण कर पाने में संभव होता है तो वो सिर्फ तात्कालिक परिणाम नहीं होते हैं, वो उसको पूरी समग्रता में देख पाने की क्षमता विकसित कर पाता है कि अगर हम दोनों के बीच आज झगड़ा हुआ तो इसका परिणाम कल किसी तीसरे पर भी पड़ सकता है। चौथी जगह पड़ सकता है। जैसे यह साइंस की एक बहुत मशहूर थ्योरी है कि एक तितली के उधर उड़ने से पांच हजार किलोमीटर दूसरी जगह भूकम्प आ जाता है ठीक इसी तरह मनुष्य के बारे में भी यह बात सत्य है। आज यहां मेरे बोलते समय, मेरे किसी व्यवहार के पीछे हो सकता है चार दिन पहले का मेरा मेरी पत्नी के साथ हुआ झगड़ा कारण हो। उसको वो जान जाएगा जो हम दोनों के संबंधों को जानता है जो उस संदर्भ को समझता है और मनुष्य के पास वो ताकत है। जो संदर्भ जानता हो वो इस तरह के सहसंबंध जोड़ना जानता है। इसके चलते ही हम इतिहास बना पाते हैं, इसके चलते ही हम भविष्य की एक रूपरेखा बना पाते हैं, इसके चलते ही हम सामाजिक नियम बना पाते हैं और यह चीज जो मैं बोल रहा हूं यह कोई बहुत बड़ी चीज नहीं है। दरअसल शिक्षक अपने विद्यार्थी को मानविकी यानी कविता पढ़ाते समय, कहानी पढ़ाते समय, इतिहास पढ़ाते समय, दर्शन पढ़ाते समय या कला सिखाते समय भी यह सब चीजे अपने-आप देता है। ये मानविकी की ही देन है।

अब मैं कुछ साहित्य की बातें करूंगा। मैं कक्षा में विद्यार्थियों से कभी भी ये वाक्य नहीं बोलता कि आज मैं आपको ये कविता पढ़ाऊंगा। बहुत छोटी-सी बात है लेकिन यह बहुत गहरी बात है। मैं हमेशा यह बोलता हूं कि आज हम ये कविता पढ़ेंगे। अगर किसी का ध्यान नहीं जाए तो ये दोनों बहुत सामान्य से वाक्य हैं। यह बात स्कूल के शिक्षक के बारे में मुझसे ज्यादा सही है यानी मुझसे भी ज्यादा यह बात आप पर लागू होती है कि कविता कोई कभी किसी को पढ़ाता नहीं है। कविता हमेशा साथ मिलकर पढ़ी जाती है। जैसे ही मैं आपसे यह कहता हूं कि मैं आपको यह कविता पढ़ाऊंगा वैसे ही मैं तीन बातों की हत्या कर देता हूं। पहली चीज, कविता में छिपे हुए आनन्द की हत्या हो जाती है। दूसरी चीज, साहित्य एक सहगामी प्रक्रिया है, इस सिद्धांत की हत्या करके हम वापस पोटली सिद्धांत की तरफ खड़े हो जाते हैं। क्योंकि पढ़ाऊं का मतलब यह कविता है, जिसका एक निश्चित अर्थ है और मैं आपको दूंगा। दूंगा कहते ही गड़बड़ है क्योंकि आपको तो उसके भीतर वो इच्छा पैदा करनी थी उस पार जाने की कि हां मुझे चलना है उस पार। यान का रूपक बहुत जबरदस्त है क्योंकि नाव दो लोग मिलकर चलाते हैं आम तौर पर। जब नाव लेकर दो लोग जाएंगे तो शिक्षक-विद्यार्थी चलाएंगे और दोनों जाएंगे साथ-साथ। शिक्षक विद्यार्थी के साथ जा रहा है। तो मैं आपके साथ यह कविता पढ़ रहा हूं या आइये हम ये कविता पढ़ते हैं। मैं आपको ये कविता पढ़ाऊंगा नहीं। क्योंकि कविता का एक निश्चित अर्थ है जैसे ही यह बात हम मानते हैं वैसे ही हम यह बात भूल जाते हैं कि कभी भी साहित्य का एक अर्थ नहीं होता है। साहित्य की, कविता की, कहानी की खासियत ही यह है कि वो अपने अन्दर अनेक अर्थ समेटे हुए है। एक कविता में कितने सारे अर्थ छुपे होते हैं, यह आपको नहीं पता और दुनिया में अभी तक कितने अर्थ खुलने बाकी हैं! और क्या पता वो चमत्कार उसी दिन हो जिस दिन आप पढ़ा रहे हों, उदाहरण के लिए आज 9 जनवरी को मैं कक्षा में पढ़ा रहा हूं तो मेरे मन के भीतर यह उत्साह होना चाहिए कि शायद 9 जनवरी वो शानदार दिन होने जा रहा है जब इस कविता का एक ऐसा नया अर्थ खुलेगा जो आज तक किसी ने सोचा ही नहीं था। क्योंकि दुनिया अपरमित संभावनाओं के कारण ही आगे बढ़ती है। जिस दिन संभावनाएं खत्म, उस दिन कुछ नहीं बचा। हर रचना के अनेक अर्थ होते हैं और हर विद्यार्थी के पास सोचने की शक्ति होती है और उसकी वो सोचने की शक्ति उसे उस कविता का अपना अर्थ ढूंढ़ने की प्रेरणा देती है और जब आप कविता पढ़ने को कह रहे हैं तो आप तीन तरह के शिक्षक हो सकते हैं, एक वो शिक्षक जो अपना अर्थ विद्यार्थी को दे दे, वो सबसे गड़बड़ हैं। दूसरा वो जो शिक्षक विद्यार्थी के साथ पढ़ते हुए एक नया अर्थ या उस अर्थ तक जो उसके दिमाग में है, उस तक पहुंचे लेकिन विद्यार्थी के साथ पहुंचे अकेले नहीं। यह पहले वाले शिक्षक से अच्छा हुआ। तीसरा जो शिक्षक विद्यार्थियों के बीच कविता को छोड़ दे और कहे कि ढूंढो इसका अर्थ। और नये-नये अर्थों को आने के रास्ते खोले। ये सबसे अच्छा शिक्षक है। ये चुनौती जो स्वीकार करता है कविता पढ़ाते समय कि मैं विद्यार्थी को कविता दे दूं और कहूं कि ढूंढो इसका अर्थ क्या हो सकता है। हो सकता है वो ही अर्थ निकले, हो सकता है 9 जनवरी कोई नया दिन नहीं हो। जो सामान्य अर्थ अभी

तक सब लोग पढ़ते आए थे वही विद्यार्थी भी ढूंढ लें लेकिन तब भी उसमें और जो मैंने एक अर्थ 'दिया', उन दोनों चीजों में अन्तर होगा। मैंने अर्थ दिया इसका मतलब यह होगा कि मैंने विद्यार्थी को दे दिया था और विद्यार्थी ने खुद वही अर्थ ढूंढ़ा, इसका मतलब उसने खुद पढ़कर अर्थ निकालना सीख लिया। आपने विद्यार्थी को साइकिल के कैरियर पर बिठाकर कहीं पहुंचाया नहीं बल्कि आपने विद्यार्थी को साइकिल चलाना सिखा दिया। आपने साइकिल पर बिठाकर पीछे से उसे धक्का दे दिया। जब तक विद्यार्थी खुद बिना किसी के सहारे के साइकिल नहीं चलाएगा और एक-आध बार घुटना नहीं छिलवाएगा तब तक साइकिल चलानी आएगी क्या? उसके पीछे उसका जो हाथ पकड़े रहते हैं न मां-बाप डर के मारे कि बच्चा मेरा गिर नहीं जाए, उनका बच्चा कभी साइकिल नहीं सीख सकता। जो समझदार मां-बाप हैं या बड़े भाई या दोस्त जो भी हैं वो अपने भाई या दोस्त को साइकिल चलाते समय धक्का देकर छोड़ देते हैं कि जा घुटना फुड़ा। एक-आध बार घुटना नहीं फुड़ा तब तक क्या साइकिल चलाई। तो अगर विद्यार्थी को आपने अर्थ कैसे ढूंढ़ते हैं कविता का यह सिखाया तो आपकी किताब तो आज खत्म हो जाएगी पर कल आपकी किताब के बाद भी विद्यार्थी कविता पढ़ना जारी रखेगा।

भारत में खासतौर से हिन्दी की दुर्दशा है कि हिन्दी में पाठक है ही नहीं। साहित्य की किताबें नहीं है घरों में पाठक बनना हमने खुद ने खत्म किया है। पाठक इसलिए खत्म हुए क्योंकि हिन्दी की कक्षाओं में शिक्षकों ने इतनी खराब ढंग से हिन्दी पढ़ाई, मैं आपको नहीं कह रहा हूं पूरी पीढ़ी को कह रहा हूं, मैं भी हिन्दी का शिक्षक हूं, आप में से बहुत सारे होंगे, सबको जोड़कर कह रहा हूं। एक नहीं पिछली चार पीढ़ियों से हम जो पढ़ाते आ रहे हैं, हम लोगों ने अपने विद्यार्थियों को और कुछ सिखाया या नहीं सिखाया हिन्दी से चिढ़ना सिखा दिया। जिसके सबसे ज्यादा नम्बर आते हैं कक्षा में हिन्दी में वो भी कोर्स पूरा होने के बाद कभी हिन्दी नहीं पढ़ता। पूछो तो कह देता है कि हां वो दसवीं तक थी मेरे पास उसके बाद तो कभी मैंने पढ़ी ही नहीं। होता है ना ऐसा कि बहुत अच्छा विद्यार्थी जो बाद में इंजीनियर बन गया, वैज्ञानिक बन गया आप उससे मिलते हैं आपका बहुत अच्छा विद्यार्थी था वो 8वीं, 9वीं, 10वीं में और वो कहता है सर तब तो था लेकिन बाद में मैंने कभी पढ़ी ही नहीं हिन्दी। होता है कि नहीं होता? हमारे देश में ऐसी त्रासदी है कि अच्छा विद्यार्थी है तो उसको साइंस की तरफ ही जाना है। चलिए ठीक है, वो जो भी बनना था बन गया, साइंटिस्ट बनना था बन गया, डॉक्टर बनना था बन गया लेकिन हिन्दी का अच्छा विद्यार्थी तो वो बिना अपने प्रोफेशन की मजबूरी के भी बना रह सकता था न। अगर आप अच्छे शिक्षक थे तो आपका विद्यार्थी होने के नाते उसको आपकी कक्षा से निकलने के बाद या बीए, एमए, बीएससी या एमएससी या बीटेक, एमटेक या जो भी उसको करना था करने के बाद या नौकरी करते हुए, गृहस्थी चलाते हुए उसको यह तो रखना चाहिए था कि जैसे हम टीवी पर रोज न्यूज देख ही लेते हैं ऐसे महीने में एक किताब हिन्दी की कोई कविता, कहानी, उपन्यास ही खरीद लूं। नया क्या आ रहा है, जान ही लूं। ऐसे कितने परिवार हैं, जो हिंदी के पठन पाठन से जुड़े नहीं हैं और फिर भी जिनके घरों में हिंदी की सामयिक किताबें मिलती हैं? हिन्दी के अलावा और भारतीय भाषाओं में इतनी बुरी स्थिति नहीं है। थोड़ा बुरा लगता है यह सुनना लेकिन मराठी परिवारों में आप जाइए, मराठी का नया उपन्यास उनके घर में मिल जाएगा। बंगालियों के घरों में आपको रविन्द्रनाथ टैगोर का साहित्य मिल जाएगा, हमारे घरों में क्या प्रेमचन्द सबके घरों में है? नहीं है। लेकिन उनके घरों में रविन्द्रनाथ टैगोर जरूर होते हैं। सिर्फ रविन्द्रनाथ टैगोर ही नहीं नए साहित्यकारों की किताबें भी रुचि से रखी हुई मिल जाएंगी। हम हिन्दी में यह बना ही नहीं पाए। क्योंकि हम लोगों ने हमेशा कक्षा में हिन्दी की घण्टी जो थी, उसमें बच्चे को यह सिखाया कि हर पाठ का एक निश्चित अर्थ होता है, उसको रट कर के उगलना सिखाया।

हम लोगों ने अपनी कक्षा में अनिवार्य रूप से एक सवाल पूछना जारी रखा और यह सवाल हम हर कहानी के बाद पूछते हैं ''बच्चो! इस कहानी से हमें क्या शिक्षा मिलती है।'' यह दुनिया का सबसे खराब सवाल है। यानी बच्चा कहानी पढ़ने से पहले ही यह बात जानता है कि मुझे इसमें से एक शिक्षा ढूंढ़ कर निकालनी है। लेकिन क्या आप लोग फिल्म देखने जाते हैं तो यह सोचकर जाते हैं क्या कि इस फिल्म से मुझे क्या शिक्षा मिलने वाली है। फिल्म क्या है? फिल्म भी तो रचना का एक माध्यम ही है, एक प्रकार की कहानी ही है। तो फिर हिन्दी भाषी प्रान्तों में कहानी की किताबें

बिकना क्यों बन्द हो गई, राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, बिहार, उत्तर प्रदेश इन जगहों पर हिन्दी की किताबें क्यों नहीं पढ़ते लोग? सिनेमा हॉल में अगर लोग 250 रुपये का टिकिट लेकर के जा सकते हैं तो 75 रुपये की पेपर बैक राजकमल की किताबें क्यों नहीं खरीद सकते? इसलिए नहीं खरीद सकते हैं क्योंकि बचपन से हमें सिखाया था कि कहानी क्यों पढ़ी जाती है- 'शिक्षा'। बच्चो! इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है? दरअसल जब हम पूछते हैं तो हम बच्चे को यह सिखा देते हैं कि जो भी सवाल, जो भी कहानी वो पढ़ रहा है वो दरअसल एक नैतिक शिक्षा का रास्ता भर है, एक सीढ़ी भर है तो दरअसल हम कहने को तो हिन्दी की कक्षा पढ़ा रहे हैं असल में हम नैतिक शिक्षा वाला घण्टा ही दोबारा चला रहे हैं कि इससे कुछ सीख लो। ठीक है सीखना चाहिए, मैं यह नहीं कह रहा। हर घटना, हर चीज से कुछ सीखता है आदमी दुनिया में, कौनसी चीज है जिससे नहीं सीखता है। ठोकर लग जाती है तो जानता है कि अगली बार कैसे चलना है। ठोकर भी सिखाती हैं लेकिन हिन्दी की कक्षा में एक चीज थी जो महत्वपूर्ण थी जो किसी और कक्षा के पास नहीं थी। वो था आनन्द, मजा, रस। वो हमने खुद ने खो दिया, जबकि हमारे ही पास ऐसा था कि साइंस के टीचर हमसे ईर्ष्या करते कि यार तुम्हारी कक्षा अच्छी है। बच्चा कहानी की कहानी पढ़ रहा है और पढ़ाई की पढ़ाई हो रही है। मैं बच्चों से पूछता हूं, (अक्सर जो भी नई फिल्म लगी होती है, उसका नाम ले लेता हूं) कि बताओ शोले अगर तुम्हारे कोर्स में लग जाएगी तो मजा आएगा, बच्चे बड़े खुश हो जाते हैं। मैं कहता हूं नहीं होगा। अगर शोले कोर्स में लग जाएगी तो तुम शोले देखोगे ही नहीं। तुम्हें पकड़ कर बिठाया जाएगा कि देख लो तब भी तुम नहीं देखोगे। क्योंकि उससे आनन्द निकाल देंगे हम लोग। मैं मानता हूं कि कई बार शिक्षक चाहे तो भी बहुत सारे प्रयोग नहीं कर सकता है लेकिन कुछ प्रयोग तो व्यक्तिगत स्तर पर शुरू किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए कहानी, कविता पढ़ाने और सिखाने से ज्यादा मिल कर पढ़ने की चीज है। मैं जो कह रहा हूं यह सिद्धांत की बात है। इसे कोई शिक्षक कोशिश करे तो व्यवहार में अपना सकता है लेकिन अमूमन कोई नहीं करता। हमको इससे बड़ी पीड़ा होती है कि किसी को पढ़ाई में आनन्द आए। मूलतः हम लोग आनन्द देखकर चिढ़ने वाले लोग हैं। हम लोग उसको यह समझा देते हैं कि बेटा कहानी पढ़ ले लेकिन कहानी तेरा एक पाठ है। तो बच्चा भी कहानी को पाठ की तरह पढ़ने लगता हैं और इसीलिए जब 10वीं के बाद हिन्दी छूटी उसके बाद पलट कर कभी पढ़ता ही नहीं है हिन्दी। हमने वो आनन्द उसके भीतर से निकाल दिया, जिससे कि वो उस आनन्द को महसूस कर पाता। वो आनन्द तब ही था जब उसका अर्थ वो खुद ढूंढ़ निकालता। हम उसको अर्थ दे नहीं देते और वो तब था जब उससे सिर्फ यह नहीं पूछते कि इससे क्या शिक्षा मिलती है।

दूसरा, हम जितनी कहानियां बच्चों को सुनाते हैं (और यहां सिर्फ सिलेबस की ही बात नहीं है। सिलेबस के अलावा भी कहानियों का बहुत उपयोग होता है। कक्षा में अनेकों उदाहरणों के लिए सुनाई जाती हैं, असेम्बली में सुनाई जाती हैं, प्रेयर के बाद सुनाई जाती हैं, कहानियों का हमारी कक्षाओं के साथ, हमारे शिक्षक जीवन के साथ अनिवार्य हिस्सा है।) हम जो कहानियां सुनाते हैं उनमें हम किसी आदर्श को उनके सामने रखते हैं, किसी महान आदमी की कहानी सुनाते हैं, जिसमें बचपन से ही महानता के लक्षण थे। अगर किसी के बचपन की कहानी सुनाते भी हैं तो उसी आदमी की सुनाते हैं जो बड़ा होकर महान बना। या अगर किसी बच्चे की कहानी सुनाते हैं तो ऐसे बच्चे की कहानी सुनाते हैं जिसने अपने बचपन में ही कुछ विलक्षण कारनामे कर दिखाये थे। ये तीनों चीजें बच्चों को प्रेरणा देने के लिए बहुत अच्छी हैं लेकिन ऐसा करते हुए हम कुछ बहुत बड़ी गड़बड़ कर देते हैं। बचपन जो है वो बड़े होने की रिहर्सल नहीं होती है, बड़े होने की पूर्व पीठिका नहीं है बचपन। बचपन अपने-आप में पूरा बचपन होता है लेकिन हमारी सारी जो कहानियां हमने सुनाई हैं वो सुनाते हुए कहीं न कहीं बच्चे को हम यह संदेश दे रहे होते हैं जो वो ग्रहण कर रहा होता है कि मुझे जल्दी से बड़े हो जाना है और बड़े होकर बहुत महान काम करने हैं। यानि बचपन जो है खाली इंतजार है बड़े होने का। हो सकता है कि अब 25, 30, 40 साल की उम्र में हम को यह लगता हो कि बचपन तो खाली रिहर्सल थी ये बड़े होने की, असली काम तो ये है लेकिन बच्चे के सामने कभी ऐसा मत कहिये कि तेरा बचपन तो खाली एक रस्ता है, बच्चे के लिए वह पूरा गंतव्य है। उसके सामने हम कभी उसका महत्व बनने ही नहीं देते। अपनी तमाम कहानियों में, तमाम किस्सों में, तमाम प्रेरक कथाओं में इतिहास के प्रसंगों में जो भी उसके सामने कहानी और इतिहास का हिस्सा रखते हैं, उसके साथ उसके मन में और यह विश्वास गहरा होता है कि मैं जल्दी बड़ा कब होऊंगा। और

ऐसे कितने ही बच्चे है। और आप खुद सोचिये बचपन में हमको भी ऐसा लगता था कि मैं कब बड़ा होऊंगा। और बड़े होने के बाद हम यह कहते हैं कि काश हम बच्चे ही रहते। यानी दोनों ही तरफ गड़बड़ है। जब हम बच्चे थे तो हम बच्चा होकर खुश नहीं थे और अब बड़े हैं तो बड़े होकर खुश नहीं हैं। यानी जो जिस उम्र में था, उसको उस उम्र में पूरा जीने का अवसर मिला ही नहीं। हम सबने अपना थोड़ा-थोड़ा बचपन खोया है। तैयारियों में, पढ़ाई में, ये में, वो में, बड़ा-बड़ा बोझा उठाने में। पानीपत की लड़ाई बढ़ गई इसलिए पाठ बढ़ गया वगैरह-वगैरह और कहीं न कहीं हम सबके भीतर एक दुष्ट आदमी भी है वो यह कहता है कि जो मुझे नहीं मिला वो तुझे कैसे मिल गया है। चूंकि हमने भी थोड़ा-थोड़ा बचपन खोया था, इसलिए हम बच्चे के सामने हमेशा यह जताने की कोशिश करते हैं कि बेटा तुम्हें बड़ा होकर ये बनना है। पाठ्यक्रम में जो कहानियां छपी हुई हैं, मानता हूं वो आपके हाथ में नहीं हैं लेकिन मैं फिर कह रहा हूं कि कहानियों का हमारी पढ़ाई के साथ बहुत अनिवार्य हिस्सा है। हम अपनी कक्षाओं में अनेकों मौकों पर अनेक कहानियां सुनाते हैं। हम जिन कहानियों का चुनाव करते हैं उनमें बच्चे के वर्तमान का उल्लास और उत्सव कितनी बार होता है क्योंकि उसके लिए तो वही मायने रखता है लेकिन हमारी कहानियों में वो नहीं होता है। वो छूट जाता है और या फिर ऐसे विलक्षण बच्चे की गाथा होती है, जिसने बचपन में ही बहादुरी के कारनामे दिखाये थे और जिसे वीरता का पुरस्कार मिला था। अब सब बच्चे वीर थोड़े ही हैं या वीर हैं तो सब बच्चों को मौके थोड़े ही मिले हैं कि उनका साथी बच्चा नदी में डूब रहा था और उन्होंने कूद के निकाल लिया। तो क्या मेरे को बहादुर होने के लिए इसकी कामना करनी चाहिए कि काश मेरा दोस्त एक बार डूबे और मैं उसको बचा लूं। जिस बच्चे को बहादुरी दिखाने का मौका नहीं मिला वो भी बहुत अच्छा, सच्चा, नेक और बहादुर बच्चा होगा ना। जो आम बच्चे हैं जो हमारी कक्षाओं में बैठे हैं, उनके पास ऐसे बहुत छोटे-छोटे काम हैं न जिनकी तारीफें की जा सकती हैं। सच बोलना, साफ-सुथरा रहना, टाइम पर आना, आदर करना, आदि या सच बोलने से भी ज्यादा अच्छा उदाहरण होगा झूठ बोलने के बाद भी उसको स्वीकार कर लेना। एक ऐसा उदाहरण होगा जिसके साथ हर बच्चा अपने-आपको जोड़ पाएगा। मैं फिर कह रहा हूं कि जैसे ही आप आदर्श रखने की कोशिश करते हैं वैसे ही आप बच्चों को थोड़ा-सा विमुख कर देते हैं अपने से।

आदर्श बहुत अच्छी चीज है लेकिन आदर्शों के साथ थोड़ी गड़बड़ होती है। गौतम बुद्ध के बारे में एक किंवंदती है जो मैं सुना रहा हूं। उनके पिता को भविष्यवाणी की एक व्यक्ति ने कि आपका बेटा या तो चक्रवर्ती सम्राट बनेगा या बहुत बड़ा संन्यासी बनेगा तो राजा शुद्धोधन ने यह तय किया कि मेरा बेटा चक्रवर्ती सम्राट ही बने और सन्यासी न बने इसके लिए बचपन से ही उसको सन्यास की ओर आकर्षित होने वाली तमाम संभावनाओं से दूर करके रखा जाए। सिद्धार्थ को कोई बूढ़ा न देखने को मिले, कोई रोगी न देखने को मिले, कोई मृतक न देखने को मिले मतलब हमेशा हंसते-मुस्कुराते स्वस्थ खिलखिलाते लोग ही उसके चारों और रहें और उसको जिंदगी का ऐसा शानदार वाला रूप देखने को मिले कि उसको दुःख क्या होता है, कभी पता ही नहीं चले। अगर उसे दुःख क्या होता है पता ही नहीं चलेगा तो वो सन्यासी क्यों होगा। आगे की कहानी तो आप सब जानते ही हैं, जब सिद्धार्थ ने पिता की बनायी सरहद को लांघा तो एक रोगी, एक बूढ़ा और एक मृतक देखने के बाद ऐसा वैराग्य हुआ कि सिद्धार्थ रातों-रातों अपनी पत्नी को छोड़कर के चले गये। वो एक अलग बहस का मुद्दा है कि अपनी पत्नी को छोड़कर उन्होंने कितनी बड़ी गलती की थी। मैं सिर्फ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बताने की कोशिश कर रहा था कि आदर्श-आदर्श और अचानक एक दिन यथार्थ सामने आये तो क्या होता है। अभी थोड़ी देर पहले हम बेहार साहब के साथ बात कर रहे थे। तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों का जिक्र आया था। तो मुझे एक और शानदार उदाहरण याद आ रहा है 'अनामदास का पोथा'। 'अनामदास का पोथा' हजारीप्रसाद द्विवेदी का बहुत शानदार उपन्यास है, रैक्व ऋषि के बारे में है। छान्दोग्य उपनिषद में रैक्व व्याख्यान है। उस रैक्व व्याख्यान को लेकर पूरा उपन्यास लिख दिया है द्विवेदी जी ने। क्या मामला है थोड़ा सुन लीजिए किस्सा बड़ा मजेदार है। रैक्व के बारे में भी कुछ-कुछ ऐसा ही था। रैक्व के पिता चाहते थे कि रैक्व सन्यासी बने। शुद्धोधन चाहते थे कि सिद्धार्थ सन्यासी न बने और चक्रवर्ती सम्राट बने लेकिन रैक्व के पिता चाहते थे कि रैक्व एक बड़े सन्यासी बने तपस्वी बने यानी दुनिया के सबसे महान तपस्वी बनें। इसीलिए रैक्व के पिता ने ये सोचा कि सन्यास में बाधा डालने वाली चीजें क्या होती है यहां मैं जो बात बोलने जा रहा हूं वो उन लोगों की क्या मानसिकता थी यह बताने के लिए बोल रहा हूं, मैं ऐसा नहीं मानता हूं। सन्यास में बाधा डालती है स्त्री। ये एक

पारम्परिक सोच रही है कि गौतम यशोधरा को छोड़कर गये तब बने ऋषि। हालांकि बाद में मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा लिखकर गौतम बुद्ध को कठघरे में खड़ा कर ही दिया था ये अलग बात है लेकिन हमारी पारम्परिक सोच तो यही है कि स्त्री होगी तो व्यक्ति तपस्या से भटकेगा और ये हमारी कहानियों में आता है। रम्भा को भेज दिया और उर्वशी को भेज दिया और मेनका को भेज दिया और बड़े-बड़े सन्यासी डिग गए। तो रैक्व के पिता ने उनको बचपन में इस तरह से पाला कि उनके जीवन में कभी कोई स्त्री नहीं आए। स्त्री नाम के जीव का उनको ज्ञान ही न हो। यानी उनको पता ही नहीं चले कि दुनिया में दो लिंग होते हैं उनमें स्त्रियां भी होती है। उनके सामने सिर्फ पुरुष ही रहें चारों ओर तो आकर्षण नहीं होगा और आकर्षण नहीं होगा तो भटकाव नहीं होगा और भटकाव नहीं होगा तो दुनिया के सबसे बड़े तपस्वी बन जाएंगे। लेकिन उस कहानी में भी एक दिन मोड़ आया कि राजा की गाड़ी उस मार्ग से निकल रही थी जहां इनका आश्रम था और गाड़ी का पहिया अटक गया और राजकुमारी जो आमतौर पर नीचे उतरती नहीं हैं लेकिन वो उतर कर घूमने लगी तब रैक्व वहां से गुजर रहे थे। रैक्व टकरा गए, उन्होंने कहा कि ये पहिया निकालने में थोड़ी मदद कर दीजिए। अब रैक्व की जो प्रतिक्रिया होती है बड़ी जबरदस्त होती है। रैक्व तो जानते ही नहीं थे कि स्त्री भी कोई प्राणी होता है। ये कौन तपस्वी कुमार है? इनके तो दाढ़ी मूंछ भी नहीं है। इनकी देह भी कुछ अलग तरह की है और इनको देखकर मेरे मन में कुछ-कुछ हो रहा है। जो कभी और किसी को देखकर नहीं होता था। यानी वो उस आकर्षण को कुछ नाम नहीं दे पा रहे थे। लेकिन उनको पहली बार कुछ ऐसा महसूस हुआ जो आज तक किसी तपस्वी कुमार को देखकर नहीं महसूस हुआ था और फिर वो धक्का देकर निकाल तो देते हैं लेकिन जिस पीठ से धक्का दिया था न उसमें खुजली रह जाती है उनके। राजकुमारी उनसे बहुत प्रभावित हो जाती है, भेजकर के दूत उनको वहां बुलाती है। और क्योंकि उनमें व्यवहारिक ज्ञान कुछ नहीं था, सैद्धांतिक ज्ञान अपरम्पार था तो वहां जाकर के वो बड़े पण्डितों से शास्त्रार्थ करते हैं, प्रशंसा पाते हैं लेकिन वो खुद ये समझ पाते हैं कि सिद्धांत और व्यवहार में अन्तर कितना ज्यादा है और वो उस व्यावहारिक ज्ञान जो उन्होंने कभी नहीं पाया था उसकी कमी पहली बार महसूस करते हैं। फिर वो पढ़ना-लिखना छोड़कर करके गाड़ी चलाने लग जाते हैं, वो आगे की कहानी है।

बालक को कठोर यथार्थ से 'बचाकर' रखने का प्रयास- मैं इसको रैक्व ग्रंथि कहता हूं। जो हम शिक्षक विद्यार्थियों के साथ हमेशा करते है और यह काम सबसे ज्यादा साहित्य और इतिहास का शिक्षक ही करता है जो दोनों मानविकी के अंतर्गत आते हैं। कहानियां दोनों में होती हैं क्योंकि इतिहास में भी कहानियां होती हैं और साहित्य में भी कहानियां होती हैं और इतिहास की कहानियां सच्ची हों यह जरूरी नहीं है। इतिहास मूलतः क्या है? एक इतिहासकार की नजर से देखा हुआ अतीत है। लोग अपने-अपने तरह से इतिहास को देखते हैं तो मैं यह कह रहा था कि हम जब बच्चों को इतिहास या कहानियां या दोनों जब पढ़ाते हैं तो हम हमेशा इस बात का ध्यान रखते हैं कि बच्चों को कुछ आदर्श से हटकर के यथार्थ न पता लग जाए। हम उन्हें बचाने की कोशिश करते हैं, समाज की कड़वी सच्चाईयों से और ये जो मैं बात कह रहा हूं यह मेरी नितांत व्यक्तिगत सोच है आप इससे असहमति रख सकते हैं, मुझसे लड़ सकते हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से इसको रैक्व ग्रंथि मानता हूं कि बच्चे को बचाकर रखना है। कुछ उसको गड़बड़ पता न लग जाए। जब उसको पता लगता है तो उसको लगता है कि मेरे साथ धोखा किया है आपने और उस दिन वह समझता है। तो आप बच्चे को सिखाते रहे, सिखाते रहें कि चोरी करना बुरी बात है। आप समझते हैं कि हमारे दौर के बच्चे इतने बेवकूफ हैं कि वो नहीं जानते हैं कि दुनिया में चोरी करने वाले, भ्रष्टाचार करने वाले, घोटाले करने वाले कितने सफल हो रहे हैं? अपने बच्चों को हमसे बेहतर कौन जानता है। आपके हिसाब से वो इतने सीधे और इतने भोले हैं? नहीं हैं न। तो हम कुल मिलाकर बच्चे को यह शुरू से ही सिखाते हैं कि तुम बहुत कुछ जानते हो, लेकिन फिर भी हम यह मानते हैं कि तुम कुछ नहीं जानते हो और हम वो सब कुछ नहीं बताएंगे जो तुमको नहीं जानना चाहिए। लेकिन हमको पता है कि तुम अलग से वो सब कुछ जानते हो। इसीलिए हमारी तमाम कहानियां आदर्शों से भरी रहती हैं, उपदेशों से भरी रहती हैं। वो तमाम कहानियां जिनके अन्दर हम कहानी के अंत में उपदेश का छौंक जरूर लगाते हैं। हम उपदेश के बिना कोई कहानी सुनाते ही नहीं हैं। हम यह भूल गए कि कहानियां हंसने के लिए होती हैं, कहानियां आनन्द लेने के लिए होती हैं, कहानियां रस लेने के लिए भी होती हैं लेकिन हम बिना उपदेश के उन्हें चीजें नहीं देते हैं और इसके कारण बच्चे के लिए हिन्दी की घण्टी एक बोरिंग, टीचर जो बताए उसको सुन लेने का, रट लेने का अगले दिन या

परीक्षा में उसको वैसा का वैसा उगल देने का माध्यम भर रह जाती है। और इसीलिए हिन्दी की कक्षा का सबसे ज्यादा नम्बर लाने वाला विद्यार्थी बाद में आगे हिन्दी न तो लेता है और न पढ़ता है। और हिन्दी के जो बड़े लेखक हैं आज के उनसे पूछकर देखिए क्या उनके 7वीं-8वीं, 5वीं-6वीं कक्षा में हिन्दी में बहुत अच्छे नम्बर आये थे। मेरा दावा है नहीं आए होंगे। वो आम विद्यार्थी ही रहे होंगे। ऐसा नहीं हुआ कि हिन्दी के अच्छे विद्यार्थी जो थे, वो आगे जाकर हिन्दी के अच्छे लेखक तो छोड़िए अच्छे पाठक भी बने हों। हम उनको पाठकों में भी तब्दील नहीं कर पाए। जब हम एक लाख पाठक बनाएंगे तब कहीं एक अच्छा लेखक उनमें से निकलेगा। लेखक सीधे नहीं बनता। लेखक तब बनता है जब बहुत सारे पाठक होते हैं। उन बहुत सारे पाठकों में बहुत सारे लोग लिखने की कोशिश करते हैं और जब एक लाख लोग साधारण कहानियां या सामान्य कहानियां लिखते हैं तब उन्हीं के बीच में से एक प्रेमचन्द निकलता है। यह बात हमारे दौर के एक बड़े कहानीकार स्वयं प्रकाश ने कही थी कि हमें एक लाख फालतू कहानियां लिखने वाले लोग चाहिए। क्योंकि अगर वो नहीं होगा तो एक अच्छा कहानीकार भी नहीं निकलेगा उनके भीतर से। तो होना यह चाहिए कि ढेर-ढेर सारी कहानियां लिखी जाएं। लोग अपने अनुभवों पर कहानियां लिखें। स्त्रियां अपने अनुभवों पर कहानियां लिखें। यह सोचना छोड़ दें कि उनका अनुभव सीमित है। उनका जो अनुभव है वो उनका विशिष्ट अनुभव है जो और किसी के पास नहीं है। हरेक के पास अपना अनुभव होता है कहने के लिए। हरेक के पास अपनी कहानी होती है, बस हम संकोच में रहते हैं। वो हममें से ही आएंगे या हम ही अपने विद्यार्थियों को इस तरह से बनाएंगे कि वो इस तरह निकलें। तब ये भाषा बचती है, तब ये भाषा आगे बढ़ती है लेकिन अफसोस हम लोग ऐसा नहीं कर रहे हैं।

जब मैं यह कह रहा था कि कविता के बहुल पाठ संभव होते हैं, अनेक अर्थ संभव होते हैं तो उसके अन्दर यह बात भी शामिल है कि अगर एक कविता के अनेक अर्थ हो सकते हैं तो फिर एक व्यक्ति की सोच अंतिम सोच नहीं हो सकती है। ये ज्ञान उसको विज्ञान की कक्षा में या नागरिक शास्त्र/पर्यावरण अध्ययन की कक्षा में बहुत काम आएगा। दिया मानविकी के शिक्षक ने लेकिन ये ज्ञान उसको काम आएगा साइंस की कक्षा में। कैसे? ये मैं आगे बताने की कोशिश करता हूं। फिलहाल एक और चीज की बात करें जो हम दे सकते हैं वो होता है बच्चे को उसकी कल्पना का इस्तेमाल करने की छूट देना। बच्चे को अपनी कहानियां बनाने के लिए, अपनी कविताएं लिखने के लिए प्रेरित करना। बच्चे को उत्तर में 'इससे हमें क्या शिक्षा मिली' पूछने के बजाय 'अगर तुम इसकी जगह होते तो क्या करते' टाइप के सवाल ज्यादा पूछना। हम सवाल कैसे बनाते हैं? हम ऐसे सवाल बनाते हैं जिसका एक ही उत्तर हो। चूंकि परीक्षा में हम वही उत्तर चौक करके तय करेंगे कि जो मानक उत्तर के सबसे नजदीक है उसको ज्यादा नम्बर देंगे। लेकिन ऐसा करके ही हम लोग उन कुंजी और पासबुक लेखकों की किताबें ज्यादा बिकवाते हैं। क्योंकि हमने सारे सवाल ऐसे बनाये हैं जिनका एक निश्चित उत्तर है। तो वो तो उस कुंजी वाले ने छाप दिया है कि इस सवाल का ये उत्तर है। क्या हम ऐसे सवाल नहीं बना सकते हैं जिसका प्रत्येक विद्यार्थी अपनी दृष्टि से अलग उत्तर दे सके। अगर हम ऐसा सवाल बना सकते हैं तो कुंजी वालों का व्यापार एकदम ठप्प हो जाएगा। वो हमको गालियां देंगे, उनकी गालियां यदि लग गई तो काफी नुकसान भी होगा। लेकिन कुल मिलाकर शिक्षा का इससे बहुत फायदा होगा कि हम सवालों को 'क्या', 'कब', 'कौन' और 'किसने' इन से हटाकर 'कैसे', 'क्यों' और 'यदि' पर ला पाएं। पहले चार सवाल जो मैंने बोले थे उनके उत्तर वस्तुनिष्ठ होते हैं। वस्तुनिष्ठ मतलब एक ही उत्तर, जैसे महात्मा गांधी कब पैदा हुए का एक ही उत्तर है लेकिन महात्मा गांधी के अहिंसा के सिद्धांत के बारे में राय मांगी जाए तो वो हरेक की अलग-अलग हो सकती है। हालांकि हमने विद्यार्थी को यह छूट नहीं दी है कि वो उसकी बुराई भी कर सके। लेकिन देनी चाहिए। सिद्धांत तो यह कहता है कि दुनिया के हर व्यक्ति और हर सिद्धांत के बारे में विद्यार्थी से सवाल पूछते समय उसे पूरी छूट दी जाए। उसको उसके बारे में जैसा लगता है वो कह सके। कम से कम साहित्य में हमेशा इस बात की गुंजाइश है कि हम एक कविता के अनेक अर्थों को सही मान सकें। अगर हम ये मानते हैं कि एक कविता के अनेक अर्थ हो सकते हैं तो बच्चे ने जो अर्थ लिखा है वो गलत नहीं है। आपको देखना होगा कि उसने वो अर्थ किस तरह से लिखा, उसकी शैली कैसी थी, वो अपनी बात संप्रेषित कर पाया या नहीं कर पाया। बजाय इसके कि उसने गलत लिखा या सही। मैं फिर से कह रहा हूं, गलत सही कुछ नहीं है। मेरे भान्जे की कहानी में ट्रक उड़ने लग गया था एक दिन। अब न तो कभी उसने ट्रक उड़ते देखा न ऐसी कोई संभावना है। उसने ट्रक को कैसे उड़ाया, मैं आज तक सोचता हूं। लेकिन

उसकी कहानी में ट्रक उड़ जाता है। एक तरीका तो यह हो सकता है कि बच्चे को डांटकर कहा जाए कि ट्रक भी उड़ता है क्या, हट बावले! जैसे ही हमने यह कहा कि 'हट ट्रक भी उड़ता है क्या बावले!' वैसे ही हमने उसको सिखा दिया कि कल्पना नहीं करनी है। जबकि अनदेखे अनजान की कल्पना न की जा सके तो दुनिया में आविष्कार हो ही नहीं सकते। दुनिया आगे बढ़ ही नहीं सकती। आज से कुछ सौ साल पहले कोई ये नहीं सोच सकता था कि मनुष्य उड़ सकता है, आज से कुछ सौ साल पहले हम यह नहीं सोच सकते थे कि हम कहीं से कहीं बैठे हुए एक दूसरे से बात कर सकते थे और ये तो कोई सोच ही नहीं सकता था कि बिलकुल आमने सामने जैसे देख रहे हो, ऐसे कर सकते हैं लेकिन अब हम लाइव चौट करते हैं ये करते हैं वो करते हैं। तो ये सब चीजें जब नहीं हुई थीं तो किसी ने तो ऐसी कल्पना की थी ना। कल्पना को जीवन से निकाल देना, इसमें सबसे ज्यादा नुकसान मानविकी का नहीं है। इसमें नुकसान दूसरा है और वो हैं लोकतंत्र, सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता- इन सबका सीधा ताल्लुक हिन्दी की उन कहानियों से है, जिसमें बच्चा अजीबोगरीब कल्पनाएं करता है। हमारे देश में विभिन्न समुदायों के बीच में आज की तारीख में इतना ज्यादा अपरिचय बढ़ता जा रहा है कि मेरे राज्य में एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति को जीवित जला दिया, उसका वीडियो बनाकर फैलाया और हम देखते रहे और हम थरथराये नहीं, हम शर्म से गड़ नहीं गए। हमें यह नहीं लगा कि ये हमने कौनसा समाज बना दिया है। वो कहीं से तो बन के निकला होगा। इसी दुनिया में बड़ा हुआ होगा। उसके खून के दाग हममें से हरेक की कमीज पर है। मतलब थोड़े-थोड़े अपराधी हम सब हैं, वो एक आदमी नहीं है। इसके पीछे हमने जो बच्चों को अपरिचित और अनजान के प्रति अविश्वास पैदा करना सिखाया, वह जिम्मेदार है। आज अपरिचय के दायरे तो बहुत ज्यादा हैं ही विभिन्न समुदायों के बीच में, लेकिन उससे ज्यादा ये शक और अविश्वास है। अगर आप समझ पायें तो इसका ताल्लुक कहीं न कहीं उस साहित्य की कक्षा से है। आज की तारीख में व्हाट्सएप पर अनाप-शनाप जहरीले-जहरीले मैसेज आते हैं आप कहिये कि जरा वाट्सअप इतिहास लेखन को थोड़ी देर के लिए अलग रखो और मुझे बताओ कि मुसलमानों से सबसे बड़ी दिक्कत क्या है? उत्तर मिलेगा वो चार शादियां करते हैं, पूछिए आपने देखा क्या, नहीं लेकिन होता है। गन्दे रहते हैं, अरे थोड़ा बताइये आपने कहां देखा। नहीं देखा लेकिन होता है क्योंकि वाट्सअप पर पढ़ा था। हो सकता है कि जो राजस्थान में बैठकर पढ़ रहा है उससे कहा जा रहा हो कि ऐसा छत्तीसगढ़ में होता है और जो छत्तीसगढ़ में पढ़ रहा है उसको कहा जा रहा है कि वो राजस्थान के रेगिस्तानी इलाकों में ऐसा होता है और आप ऐसा यकीन कर लें। आप अपने चारों ओर के अनुभव से ज्ञान का विस्तार करना बन्द कर देते हैं।

साहित्य का एक शिक्षक अपनी कक्षा में विद्यार्थियों से कहता है कि आओ हम ये कविता पढ़ते हैं और तुम बताओ इसमें क्या अर्थ है और फिर वो कक्षा में बहस को बढ़ाने के लिए यह भी कह सकता है कि मेरे हिसाब से तो इस कविता का ये अर्थ है। तो एक कविता के दो अर्थ संभव हैं और मुझसे अलग सोचने वाले लोग दुनिया में हो सकते हैं ये है लोकतंत्र। लोकतंत्र सहिष्णुता के साथ चलता है कि अनेक विचारधाराएं, अनेक समुदाय, अनेक मत, अनेक विश्वास, अनेक धर्म (मैं जातियों के बारे में नहीं बोल रहा हूं, जाति भिन्नता नहीं विषमता है) विभिन्नताओं के साथ जीना सीख सकना ही लोकतंत्र है। विभिन्नताओं को स्वीकार करना। दुनिया पूरी भिन्नताओं से बनती है। कोई भी दो मनुष्य एक जैसे नहीं है और हम इन भिन्नताओं को स्वीकार कर पाएं। इनका सम्मान कर पाएं तो हम अच्छे मनुष्य हैं और मैं यहां अच्छे नागरिक भी नहीं बोल रहा हूं। क्योंकि मुझे नागरिक शब्द से भी थोड़ी-थोड़ी दिक्कत होने लग गई है आजकल। क्योंकि हमारे देश में नागरिक अच्छा होने की शर्त यह बना दी गई है कि आप अच्छे नागरिक तब हो सकते हैं जब आप पड़ोसी मुल्क से नफरत करें, उसे दो-चार गालियां बकें। मेरे हिसाब से नागरिकता से बड़ा शब्द है मनुष्यता, जो साहित्य सिखाता है। हालाकि नागरिकता को भी ऐसा नहीं होना चाहिए। नागरिकता का एक व्यापक अर्थ होना चाहिए लेकिन फिलहाल हमारे देश में नागरिकता का एक सीमित अर्थ हो गया है कि जब तक आप पाकिस्तान को दो-चार गाली नहीं दोगे तब तक आप अच्छे नागरिक नहीं है। तो इन सब परिस्थियों के बीच में मैं आपसे कह रहा हूं कि जैसे ही आप अपनी कक्षा में कविता को अनेक अर्थों के लिए खोलते हैं वैसे ही आप राजनीति विज्ञान की कक्षा में पढ़ा रहे अपने शिक्षक साथी की मदद करते हैं। आप लोकतंत्र का मूल सिद्धांत समझा देते हैं। आप ये समझा देते हैं कि सब लोग एक तरह से नहीं सोचते हैं। इसके लिए बहुल पाठों का होना जरूरी है।

विद्यार्थी को यदि हम आज्ञाकारी बालक बनाने की बजाय खोजी बनाने की कोशिश करें तो वो नए रास्तों पर चल पाएगा। तब वो कुछ ऐसा ढूंढ़ पाएगा जो हमने आज तक नहीं ढूंढ़ा। यह मैं सिर्फ वैज्ञानिक आविष्कारों के बारे में नहीं कह रहा हूं। समाज को बदलने की इच्छा पैदा करने वाले लोग कहां से पैदा होंगे? अंततः पूरी शिक्षा का उद्देश्य क्या है? अंततः पूरी शिक्षा का उद्देश्य है मनुष्य को उसके सर्वश्रेष्ठ का इस्तेमाल करना सिखा सकना और आपस में मिलजुल करके मनुष्य जाति आगे बढ़ना सीख सके, मनुष्य जाति आगे बढ़ना सीख सके, एक मनुष्य नहीं। प्रत्येक को उसके भीतर के सर्वश्रेष्ठ का प्रयोग करना आ सके। प्रत्येक मनुष्य को ये आ सके कि मेरे भीतर भी बहुत कुछ अच्छा है। वो अलग-अलग संदर्भों में हो सकता है। एक बहुत ही कमजोर साहित्य का विद्यार्थी बहुत अच्छा नर्तक हो सकता है। आप उसकी किसी भी प्रतिभा को निखार सकें या उसके अन्दर ये उत्साह पैदा कर सकें कि मेरे अन्दर कुछ है। मेरा बचपन या जीवन बेकार नहीं है। यदि मनुष्य जाति सामूहिक रूप से आगे बढ़ सके तो उसके लिए यह जरूरी है कि हम अपनी शिक्षा पद्धति में बच्चों को ये भी सिखा सकें कि समाज में जो कुछ गलत है, जो रूढ़ियां हैं, अंधविश्वास है, जो कुरीतियां हैं उनको बदल सकने की ताकत उसके भीतर है। अगर आप बच्चों को अनुशासित, आज्ञाकारी बालक बनना ही सिखाएंगे तो वो बड़े होकर एक ऐसे युवक के रूप में आगे बढ़ेंगे जो परम्परा को बिना सवाल किए ग्रहण करता है। तब एक ऐसी भीड़ आएगी जो ये कहेगी कि एक नई फिल्म आ रही है जिसके अन्दर हमारे पूजनीय उनको वो कहा गया है उनका अपमान हुआ है, वो युवक मरने, काटने के लिए तैयार हो जाएगा। तो यह न सोच सकने वाली पीढ़ी जो बनती है वो कहां से निकलती है? उसके पीछे अंततः दायित्व शिक्षा का है।

मानविकी का ताल्लुक समाज विज्ञान से भी है, मानविकी का ताल्लुक शांति स्थापना से भी है, मानविकी का ताल्लुक समाज परिवर्तन से भी है, मानविकी का ताल्लुक अच्छे वैज्ञानिक बनाने से भी है। ये सब काम सिर्फ और सिर्फ हम लोग कर सकते हैं। ◆

(यह व्याख्यान अजीम प्रेमजी फाउंडेशन, धमतरी, छत्तीसगढ़ में दिया गया था। इसे शिक्षा विमर्श को उपलब्ध करवाने के लिए हम उनके आभारी हैं।)

लेखक परिचय : पिछले 20 वर्षों से कॉलेज शिक्षा में साहित्य के प्राध्यापक हैं और जुलाई-दिसम्बर, 2005 में प्रकाशित 'शिक्षा विमर्श' के 'बाल साहित्य विशेषांक' के अतिथि संपादक भी रहे हैं।

संपर्क : 9461179864; himanshuko@gmail.com

क्या शिक्षा शांति में सहायक हो सकती है?

भाग-II

कृष्ण कुमार

अनुवाद : लतिका गुप्ता

खण्ड-2 : शिक्षा एवं भारत-पाक शत्रुता

कई देशों में, सामाजिक संस्था के रूप में धर्म और उसका इतिहास आधुनिक राष्ट्रवाद के इतिहास से गुंथा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यही कारण है कि हाल के वर्षों में राष्ट्र-राज्यों में शत्रुता और युद्ध जैसे संबंध बन गए हैं। भारत और पाकिस्तान का किस्सा इसी तरह का है हांलाकि ऐसे कई कारक हैं जिनके कारण उनकी पारस्परिक शत्रुता अनोखी प्रतीत होती है। साथ ही, ऐसे भी कारक हैं जिनके कारण इस शत्रुता भरे रिश्ते को प्रांतीय होड़ का आम चरित्र भी मिलता है। शिक्षा के नियोजकों, खासकर पाठ्यचर्या निर्माताओं के लिए भारत-पाक शत्रुता से एक महत्वपूर्ण सबक निकलता है कि शिक्षा को समाज के वृहत परिवेश से अलग करके नहीं देख सकते। दुनिया के किसी भी हिस्से में उन पाठ्यचर्या निर्माताओं के लिए इस सबक का मूल्य है जो शांति को लेकर चिंतनशील रहते हैं। अगर शांति फैलाने के लिए शिक्षा का पुनर्विन्यास होना है तो यह पहचानने की जरूरत है कि अतीत के बारे में ज्ञान की जमी हुई परतें कितने गहरे जा कर स्कूली सीखने या स्कूली अधिगम को प्रभावित करती हैं। यह सच है कि भारत-पाक समस्या को किसी एक या साधारण धुरी पर नहीं टिकाया जा सकता, लेकिन धर्म और बढ़ते राष्ट्रवाद के संबंध में निश्चय ही इस समस्या का बोधक मूल्य है। और यह केवल भारत-पाक विभाजन के कारण नहीं है जैसा कि कई लोग मानते हैं। अगर जाते हुए अंग्रजों ने अखंडित भारत का 1947 में धार्मिक आधार पर विभाजन न किया होता तो भी इस क्षेत्र की दो मुख्य धार्मिक अस्मिताओं के बीच धार्मिक कलह एक जीवंत संवृत्ति होती। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक यह हो ही चुका था। अत्याधिक प्रचलित मत कि औपनिवेशिक शासकों ने अपने हितों के लिए हिन्दु-मुसलमान अलगाव को भड़काया सत्य ही है, लेकिन अधूरा। आधुनिकता का आगमन और राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं में उसकी अभिव्यक्ति में बाकी का सत्य है।

औपनिवेशिक प्राधिकारी ने ऐसी धुरी दी जिस पर दोनों ही धार्मिक अस्मिताएं जनगणना, अदालत, स्कूल एवं चुनाव जैसी आधुनिक संस्थाओं के सापेक्ष जूझने लगीं (कून, 1987)। धार्मिक अस्मिता एक ऐसा साधन बनी जिसे औपनिवेशिक एवं स्थानीय, दोनों ही तरह के संभ्रांत लोगों, ने आर्थिक एवं राजनीतिक मौकों के उभरते ढांचे में सौदे के लिए इस्तेमाल किया। जिस रूप में धार्मिक अस्मिता इतिहास, किवदन्ती तथा पौराणिक कथाओं में तनावयुक्त थी उन्होंने औपनिवेशिक सत्ता संरचना से भिड़ने के लिए उसका उसी रूप में इस्तेमाल किया। समय के साथ-साथ यही भिड़ंत पूरी राजनीति बन गई (नायर, 2010)। धर्म का राजनीतिक औजार के रूप में इस्तेमाल होने के विरोध में प्रतिकूल शक्तियां भी उभरीं, लेकिन प्रतियोगी दावों से निपटने के लिए औपनिवेशिक प्राधिकारी के हाथ में धर्म एक महत्वपूर्ण मूंठ की तरह बना रहा।

विभाजन के चलते भारत और पाकिस्तान दो भिन्न हस्तियां बन गए जिनके अपने राज्य थे जो राष्ट्रीयता का उत्साह बयान करते थे। बस अलग हुए नहीं कि दोनों हस्तियों ने पारस्परिक प्रतिक्रियात्मकता को ओढ लिया (कुमार, 2007)। दोनों हस्तियों के बीच बहने वाली नकारात्मक ऊर्जा को अगर कोई समझने का प्रयास करेगा तो शायद वह मानेगा कि दोनों की अंदरुनी दुनिया बिल्कुल अलग होगी। दोनों राष्ट्र जैसी आत्म-छवियां पेश करते हैं वे वाकई अलग दिखती हैं। भारत एक ऐसे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र-राज्य की आत्म-छवि पेश करता है जिसमें भिन्न धर्मों के लोग संवैधानिक रूप से मिले बराबर अधिकारों के साथ रहते हैं। दूसरी तरफ पाकिस्तान ऐसे राष्ट्र-राज्य की आत्म-छवि पेश करता है जो इस्लाम के आदर्शों पर बना, जहां जीवन के हर पहलू में इस्लाम के मूल्यों का पालन होता है जिसमें राजनीतिक एवं नागरिक प्रशासन शामिल है। इन बिल्कुल भिन्न आधिकारिक आत्म-छवियों का आमना-सामना वैश्विक पटल पर चलने वाले प्रतीकात्मक नाटकों के कभी न बदलने वाले पात्रों के रूप में होता है। नाटक के जिस कथानक में दोनों राष्ट्र पात्र अदा करते हैं वह ऐतिहासिक है जिसके कारण विभाजन पूर्व अतीत में हैं और जो एक परिचित, तार्किक एवं सुसंगत भविष्य की तरफ बढ़ रहा है। हम इसको राष्ट्रवाद की दो कहानियों के रूप में देख सकते हैं, जो नैतिक वरिष्ठता के दावे के लिए चल रही विस्तृत प्रतियोगिता में असंगति का स्रोत बन स्रावित हो रही है।

नैतिक वरिष्ठता के दावे का आधार ही उन संदेशों का केन्द्र है जो दोनों देशों के बच्चों को दिए जाते हैं। आजादी के संघर्ष के इतिहास की भारतीय एवं पाकिस्तानी, दोनों ही कहानियों में बच्चों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि राष्ट्र-राज्यों के रूप में दोनों के पास असंगत तरीके से अलग होने का सैद्धांतिक कारण है। कहानियों का उद्देश्य यह समझा पाने की जरूरत में निहित है कि आखिर विभाजन हुआ ही क्यों। एक घटना की तरह और औपनिवेशिक शासन से आजादी पाने के निर्धारक क्षण की तरह अगर दोनों कहानियों में दो देशों के बीच समानता के उदाहरण हैं ही तो विभाजन का पर्याप्त औचित्य कैसे मिला? यह संरचनात्मक अनिवार्यता मजबूर करती है कि दोनों कहानियां यथासंभव अपसारी हों। चूंकि दोनों देशों का एक ही आम अतीत है, इसलिए पाठ्यपुस्तक लिखने वाले इतिहासकार उस अतीत की रचना अलग तरीके से करें। वे मुख्य घटनाओं को इस रोशनी में प्रस्तुत करें कि वह उस से बिल्कुल अलग हो जाए जैसा वह दूसरे राष्ट्र को दिखता है।

कहानियों में भिन्नता महान नेताओं एवं नायकों के चरित्र-चित्रण की मदद से भी की जाती है। उनके जीवन के बड़े एवं प्रभावशाली चित्रण से कहानियों में शानदार भावनात्मक प्रभाव आता है (कुमार, 2001)। बच्चों-लक्षित पाठकों-से उम्मीद होती है कि वे उन नेताओं एवं नायकों से तादात्म्य स्थापित करेंगे ताकि उन कारणों में विश्वास जागे जिनके कारण वे इतने विशाल बने। भारत के नायक महात्मा गांधी हैं और पाकिस्तान के नायक हैं जिन्ना। पाठों में से उनका व्यक्तित्व ऐसे उभर के आता है जैसे कोई विशालकाय बुत हो जो उन राष्ट्रों का मानवीकरण सा कर रहे हों जिनको उन्होंने प्रतीकात्मक रूप से जन्म दिया। उनके व्यक्तित्वों एवं जीवन-शैली में अंतर उस सूचक की तरह काम करते हैं जो दोनों राष्ट्रों के बीच अभीष्ट विचारधारा को दिखाता है। यह कवायद पारस्परिक निंदा से पूरी होती है जो भारतीय कहानी में जिन्ना की होती है और पाकिस्तानी कहानी में गांधी की।

दोनों कहानियों में राष्ट्र-निर्माण की परियोजना अवतीर्ण होती है जिसमें गर्व एवं हर्ष के साथ-साथ दुख एवं विषाद के अंश भी होते हैं। भारत के मामले में गर्व एवं उल्लास के अंश औपनिवेशिक शासक एवं उसके मनसूबों पर विजय पाने से पैदा होते हैं। पाकिस्तान के मामले में गर्व एवं हर्ष दोनों ही उसके जन्म से जुड़े हैं जो कि उसको रोकने के कई आततायी प्रयासों के बावजूद भी हुआ। भारत के मामले में विशाद का अंश है कि विभाजन हो गया और पाकिस्तान के माामले में यह कि विभाजन के दौरान क्षेत्रीय न्याय नहीं हुआ।

ये विषम रचनाएं अनिवार्य रूप से मान कर चलती हैं कि दोनों राष्ट्र-राज्य न केवल भिन्न सिद्धांतों पर आधारित हैं; उनके अंदरुनी संसार भी अलग हैं जिनमें जनांकिक एवं सांस्कृतिक वास्तविकताएं शामिल हैं। हम अब इस मान्यता को परख कर देखते हैं। भारतीय कहानी-जो कि सारी राज्य-स्तर की पाठ्यपुस्तकों में अनिवार्यतः हूबहू एक जैसी नहीं होती (कुमार, 2017)- उसकी रूपरेखा ऐसे राष्ट्र को प्रस्तुत करने के लिए बनाई जाती है जिसमें लोगों का धार्मिक जीवन उनके नागरिक जीवन के अधीन रहता है। शासनकला के एक आदर्श के रूप में धर्मनिरपेक्षतावाद और राष्ट्रीयता के प्रतीकात्मक बयान के रूप में धर्मनिरपेक्षतावाद बिल्कुल अलग चीज़ है। शासनकला के संदर्भ में वह भारत को एक उपयोगी साधन देता है जिससे जनांकिक एवं सांस्कृतिक रूप से विविध वातावरण में राज्य को अपने अनेक प्रकार्यों में मदद मिलती है। हालांकि, राष्ट्रीयता के प्रतीक के रूप में धर्मनिरपेक्षतावाद एक अपर्याप्त मुहावरा रहा है जहां तक कि वह आम जिंदगी में धर्म के महत्व को नकारने के लिए उपयुक्त माना जाता रहा है। इसी कारण से राज्य-विचारधारा के रूप में 'धर्मनिरपेक्षतावाद' की अलग-अलग तरह से विवेचना हो जाती है (केसावन, 2001) और धार्मिक पुनरुत्थानवादी राजनीति को समर्थन जुटाने का मौका मिलता रहता है। भारत और पाकिस्तान में फर्क करने के लिए एक भाषाई औजार के रूप में धर्मनिरपेक्षतावाद की यांत्रिकता काफी कमजोर साबित हुई है और समय के साथ उसकी शिकस्त के निशान ज्यादा दिखने लगे हैं।

राष्ट्रीयता के प्रतीक के रूप में धर्मनिरपेक्षतावाद के भारत के बरताव को लेकर कोई पूछ सकता हैः क्या भारत के पास कोई विकल्प है? दूसरे शब्दों में भारत से धर्मनिरपेक्षतावाद के मुहावरे को छोड़ने की उम्मीद नहीं की जा सकती क्योंकि उससे तो यह औपनिवेशिक मान्यता स्वीकार करनी पड़ेगी कि विभाजन धार्मिक आधारों पर हुआ था और उसका उद्देश्य था एक मुसलमान पाकिस्तान को हिन्दु भारत से अलग करना। इस औपनिवेशिक विमर्श में निश्चय ही गंभीर समस्याएं हैं और उसका सत्यता मान बहुत ही कम है। वो जो भी हो भारत की अपने इतिहास की कहानी को हिन्दू धार्मिकता नकारने की जरूरत नहीं है।

'प्रचलित हिन्दुत्व' का अक्सर इस्तेमाल किया जाता है कर्मकाण्ड और मिथकों को आध्यात्मिक हिन्दुत्व से भिन्न ठहराने के लिए। यह भिन्नता एक और उदाहरण है उस बेचैनी का जो धर्मनिरपेक्षतावाद के विचारधारात्मक उपयोग में निहित है। धर्मनिरपेक्ष मत धार्मिकता को आम जीवन के महत्वपूर्ण पहलू के रूप में स्वीकारने से झिझकते हैं। और इसी झिझक से धार्मिक पुनरुत्थानवादी राजनीति मजबूत होती है जिसका जोर हिन्दू-पन पर होता है।

पाकिस्तान ने जो संकट झेला है वह कोई इतना अलग भी नहीं है। उसके इस्लाम को राष्ट्रीय पंथ के रूप में अपनाने से इस्लाम के विविध रूप नकार दिए गए जो कि लोगों के बीच उभर कर प्रचलित हो चुके थे। एक बार जब नवनिर्मित राष्ट्र की एकल, राज्य-प्रमाणित अस्मिता के रूप में इस्लाम घोषित हुआ तो स्कूलों में बच्चों के दिमाग में आधिकारिक कहानी ठूंसने के लिए सजीव इस्लाम के विविध विश्वासों, मिथकों, और कर्मकाण्डों की तिलांजली दे दी गई।

इस कारण पारस्परिक रूढ़िबद्धता को बढ़ावा मिला। पाकिस्तानी आधिकारिक कहानी में और उसको सही ठहराने वाले विमर्श में भारत के धर्मनिरपेक्ष राज्य होने के दावे को कपटी करार दिया जाता है। पाकिस्तान के लिए भारत साफ साफ हिन्दू है और हिन्दुत्व एक काण्डों और विश्वासों का दृढ समुच्चय है जिनमें से एक है कि इस्लाम हिन्दुत्व के लिए एक निंदनीय खतरा है। इस विश्वास से भारत में मुसलमानों और पाकिस्तान के प्रति आम नफरत के प्रक्षेपण को समर्थन मिलता है। जैसे कि रूढ़िवादी धारणाओं में सूक्ष्मता से सोचने या फर्क करने की कोई संभावना नहीं होती, भारत की पाकिस्तानी धारणा में इस बात की कोई जगह नहीं होती कि भारतीयों के मन में विविध विचार और नज़रिए हो सकते हैं।

भारत की तरफ देखें तो, पाकिस्तान के बारे में रूढ़िवादी धारणा है कि वह देश अखण्ड इस्लाम का सूचक है जो किसी भी और धर्म को श्रद्धा के लायक नहीं मानता, हिन्दुत्व को तो बिल्कुल ही नहीं। यह विचार कि सभी मुसलमान एक हैं और सभी पाकिस्तानी भी, कि वे सब के सब अपने इस विश्वास में एकमत हैं कि पाकिस्तान को एक आज़ाद देश के रूप में बने रहने की जरूरत नहीं है, इस रूढ़िवादी धारणा के केन्द्र में है। यहां भी मूल भावना नफरत ही है जिसे भौगोलिक रूप से अपरिहार्य पड़ोसी से सतर्कता से पेश आने के लिए निर्देश के रूप में बनाए रखना है। दोनों राष्ट्र जिन रूढ़िवादी धारणाओं को बरकरार रखते हैं वे सोच के ढांचों का काम करती हैं जिनको इतिहास की चुनिंदा घटनाओं से बल मिलता है। भारत के मामले में मुसलमानों की आक्रांता एवं उपद्रवी छवि मध्यकालीन अतीत में उपलब्ध है। पाकिस्तान के लिए, चंट हिन्दू की छवि आज़ादी के संघर्ष में उपलब्ध है, खासकर विभाजन के विचार के प्रति दिखाए गए विरोध में जो कि पाकिस्तान के जन्म के लिए अनिवार्य था।

भाग-3 : इतरीकरण या अन्यता बोध की प्रक्रिया

भारत-पाक किस्सा दिखाता है कि राष्ट्रवादी खांचे में सामूहिक अस्मिता को फंसाए रखने में शिक्षा की क्या भूमिका हो सकती है। इस किस्से का एक अध्ययन यह भी इशारा करता है कि दानों राष्ट्र-राज्यों के बीच व्याप्त नफरत के रिश्तों की कितनी जटिल परतें हैं। यह जरूर बहस का मुद्दा हो सकता है कि यह किस्सा हमें किस हद तक इस बात का सामान्य नियम बनाने में मदद करता है कि शिक्षा नफरत बनाए रखने में कारगर साबित होती है। लेकिन, यह तो दिखाता ही है कि शिक्षा में इतिहास का महत्व होता है और बचपन में इतिहास के अध्ययन के लिए संस्कृति एवं अन्य समाजीकरण के स्रोत कौनसी चुनौतियां पेश करते हैं। इज़राइल-फिलिस्तीन संबंधों जैसे किस्से का भी ऐसा ही विश्लेषण किया जाना चाहिए जिसमें व्यापक माहौल के संदर्भ में स्कूली इतिहास के ज्ञान को जांचा जाए। स्कूल में इतिहास की पढ़ाई घर पर मिल चुकी सीख की अनदेखी करती है। पाठ्यचर्या निर्माता विरले ही कबूलते हैं कि बच्चों के समाजीकरण में निहित ज्ञान और सीख स्कूली ज्ञान के लिए पृष्ठभूमि का काम करते हैं। स्कूली सीख परिवार एवं समुदाय से आत्मसात व्यवहारों, दृष्टिकोणों और मूल्यों को अलग से संबोधित नहीं करते। धर्म के आधार पर रूढ़िवादी धारणा बनाना इस ज्ञान और सीख का ही अंग है।

धार्मिक समाजीकरण पर सीमित शोध है पर वह उस भूमिका पर रोशनी डालता है जो परिवार एवं समुदाय बचपन से ही एक सामुहिक एवं धार्मिक स्व-पहचान विकसित करने में निभाते हैं(सिन्हा, 1981)। कक्कर (1998) ने हिन्दु-मुस्लिम संबंधों पर हैदराबाद में किए अपने अध्ययन से यह निकाला था कि 'इतरीकृत' या अन्यत्व के बोध वाले धार्मिक समुदाय के प्रति रूढ़िवादी धारणाएं बच्चों के मन में कितने गहरे बसी रहती हैं। गुप्ता (2005) ने भी अपने अध्ययन से समान निष्कर्ष निकाले थे। उन्होंने पाया कि दिल्ली के सामासिक मुहल्लों में रहने वाले बहुत छोटे बच्चों ने उस धार्मिक समुदाय के बारे में गहरी नकारात्मक छाप और छवियां आत्मसात कर ली थीं जिसको वे अपने से अलग मानते थे। हम यह मान सकते हैं कि जिस तरह अपने और 'इतर' के धर्म के बारे में बच्चों को जानकारी दी जाती है उसके तौर तरीके में अलग समुदायों में अंतर हो सकता है। इस तरह के अध्ययन दिखाते हैं कि बचपन में कितनी जल्दी धार्मिक आत्म का गठन हो जाता है जिसमें 'इतरत्व' या अन्यत्व शामिल होता है। ऐसे मामले में 'इतर' या 'अन्य' में वे सभी अवगुण होने चाहिए जिनसे अपने आत्म को बचाना है। 'इतर' की अनुभूति संदेह, डर और नफरत के प्रभाव में आकार लेती है। 'इतर' जहां रहे उन जगहों से दूर रहना और उनके उपासना के स्थानों से बचना सीखना हिन्दू और मुसलमान के रूप में बड़े होने की प्रक्रिया में शामिल है (रज्जाक, 1995)। इस तरह की सीख को अनकही विरासत कहा जा सकता है। विरासत में मिली दूसरे के धर्म की अनदेखी पारस्परिक रूढ़िबद्धता को पालने की प्रवृत्ति को तीव्र कर देती है।

स्कूल में प्राथमिक समाजीकरण को बिरले ही स्वीकारा जाता है और इसलिए उसको कभी सही मायनों में चुनौती नहीं मिलती। न ही पाठ्यचर्या और न ही कक्षा का वातावरण इस तरह की चुनौती की संभावना देते हैं। इस तरह के चुनौती देने के काम की क्षमता पैदा करना शिक्षक-प्रशिक्षण का हिस्सा ही नहीं है। जब 11 की उम्र में इतिहास का शिक्षण शुरू होता है वह अक्सर पहले से मौजूद सामूहिक 'आत्म' और सामुहिक 'इतर' के गठन को और बल ही देता है। ऐसे गठन में भावनात्मक पुट भरा हुआ होता है जो परिवार के वयस्कों द्वारा निवेश किया जाता है। व्यस्कों की भूमिका को इस तरह देखा जा सकता है कि वे वंशगत ज्ञान को आगे बढ़ा रहे हैं। हम इस ज्ञान को कहानी या मिथक नाम देने के लिए भरमाया महसूस कर सकते हैं। हम उसे इतिहास की पदवी न देने में सही ही हैं लेकिन हम को यह याद रखना चाहिए कि इन सभी शैलियों का मौलिक चरित्र कथात्मक ही है। वह स्कूली इतिहास के राष्ट्रवादी कथानकों को भविष्य में सीखने के लिए ढांचे का काम करता है। यह समझने के लिए कि इतिहास की जगह क्या है अगर हम ब्रूनर (1997) द्वारा प्रस्तावित विचार की दो विधियां लेंगे तो हमारा विकल्प होगा वह विधि जो साहित्यिक वर्णन से परिभाषित होती है न कि दूसरी जो कि तर्कीय-गणित या वैज्ञानिक विचार से परिभाषित होती है।

अगर स्कूली इतिहास को विज्ञानवेत्तीय तर्क में योगदान देना है तो उसे कम से कम उस प्रतिबोधक इतिहास को स्वीकारना होगा जो बच्चे घर से लेकर आते हैं और यह साबित करने के लिए कि क्यों वह अतीत को समझने के लिए एक विश्वसनीय राह नहीं है उससे तर्कशील दृढ़ता के साथ जूझना होगा। इस तरह के शिक्षण-शास्त्रीय काम में संभावना होगी सामूहिक 'आत्म' और सामूहिक 'इतर' के बारे में प्रचलित रूढ़िबद्ध धारणाओं को कमजोर करने की जो सांस्कृतिक मनमुटाव को बढ़ावा देती हैं और राजनीतिक प्रयोजनों हेतु विचारधारात्मक समर्थन के लिए तैयार सामग्री का काम करती हैं। ◆

लेखक परिचय : जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।

संपर्क : anhsirk.kumar@gmail.com

शिक्षा के सामाजशास्त्रीय सिद्धांत-VI

शिक्षा का वेबरवादी समाजशास्त्र

अमन मदान
अनुवाद : जनित जैन

ठीक इस वक्त जब मैं यह लिख रहा हूं, कॉलेज में दाखिलों का समय है और समाचार मीडिया में यह छाया हुआ है कि दिल्ली के कुछ कॉलेजों में दाखिले हेतु काफी ऊंचे अंकों की जरूरत है। बहुत कम ही ऐसी जगह हैं जहां समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, साहित्य के अच्छे शिक्षक मौजूद हैं और लगता है यदि आपके अंक 98 या 99 प्रतिशत नहीं हैं तो आप हमेशा के लिए उनकी कक्षाओं के बाहर ही इंतजार करते-करते क्षीण हो जाने के लिए अभिशप्त हैं। शिक्षा का वेबरवादी समाजशास्त्र इस अजीब स्थिति, जिसमें आज हम हैं, को समझने में हमारी मदद करता है। यह सुझाव देता है कि हैसियत और प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष शिक्षा का एक मुख्य पहलू है। शिक्षा का वेबरवादी समाजशास्त्र यह सवाल पूछने में भी हमारी मदद करता है कि क्या शिक्षा सही मायने में यही है?

शिक्षा के समाजशास्त्र का वेबरवादी दृष्टिकोण मार्क्सवाद से थोड़ा भिन्न है। शास्त्रीय मार्क्सवाद समाज में होने वाले सभी तरह के संघर्ष को आर्थिक वर्गों के बीच होने वाले संघर्ष के तौर पर देखता था। उनका मानना था कि जिनके पास संसाधन अधिक हैं व जिनके पास कम हैं, उनके द्वारा शिक्षा को क्रमशः अलग-अलग दिशाओं में खींचा जाता है। जिनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होता है, वे चाहते हैं कि शिक्षा वही करे जो केवल उनके लिए उपयुक्त हो, जो उनकी रुचियों और जरूरतों के अनुरूप हो। समाज और शिक्षा के संघर्ष वास्तव में समाज की भौतिक स्थितियों के लिए होने वाले संघर्षों का ही परिणाम हैं। वेबरवादी दृष्टिकोण मानता है कि लोग सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं के लिए भी संघर्ष करते हैं, खासतौर पर हैसियत और सत्ता के लिए, और ये जरूरी नहीं कि ये संघर्ष मूलतः भौतिक स्थितियों से ही उपजे हों। हो सकता है कि कवियों के एक समूह के लिए एक उम्दा 'शेर' लिखा जाना उन्हें सम्मान और प्रतिष्ठा देता हो। पैसा कमाने से ज्यादा उनके लिए कविता लिखना अधिक महत्त्वपूर्ण है। वे एक नई गजल लिखने के लिए काफी समय और ऊर्जा झोंक देंगे, और साथियों से प्रशंसा हासिल करेंगे लेकिन अपनी नौकरियों पर मुश्किल से ही कोई ध्यान देंगे। कविता की अलग-अलग शैलियों के हिमायती आपस में लड़ते-झगड़ते हुए दिख जाएंगे और अपने विरोधियों पर कीचड़ उछालते हुए भी। वे पाठ्यपुस्तकों के संपादक मंडलों में से एक-दूसरे को बाहर धकेलते हुए दिखेंगे और उनकी कविताओं को स्कूल के पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं बनने देंगे जो कला के किसी अन्य स्वरूप पर काम करते हों। यह सब वास्तव में क्या है? यह भौतिक संसाधनों पर नियंत्रण हासिल करने का मामला नहीं है क्योंकि इस सब में मुश्किल से ही कहीं कोई पैसा शामिल है। और तो और कविता के ये दोनों विरोधी समूह हो सकता है एक ही वर्ग से आते हों।

शिक्षा व प्रस्थिति या हैसियत समूह

मैक्स वेबर (1864-1920) ने तर्क दिया कि हम अपने जीवन में प्रतिष्ठा और ताकत के लिए भी कार्य कर रहे होते हैं, ना कि सिर्फ जीवन के भौतिक पहलुओं के लिए। हम जो कुछ करते हैं वह क्यों करते हैं और हमारे तमाम संघर्ष किसलिए हैं, इसे समझने हेतु नव-मार्क्सवादी, अब भौतिक स्थितियों के अपने पुराने आग्रह से आगे बढ़ते हुए इस अधिक जटिल तरीके को स्वीकारने लगे हैं। वेबर ने हमारी दुनिया में घटने वाली कई चीजों को समझने हेतु एक अवधारणा का इस्तेमाल किया जिसे 'प्रस्थिति या हैसियत समूह (स्टैटस ग्रुप)' कहा जाता है। वे कहते थे कि एक जैसी सांस्कृतिक पहचान वाले लोग एक साथ आ जाते हैं, एक अलग समूह बनाते हैं और अन्य प्रतियोगी समूहों के साथ सम्मान व प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करते हैं। इसे बहुत ही सरल तौर पर ऐसे भी देखा जा सकता है जैसे किसी विश्वविद्यालय में मेरी मातृभाषा पंजाबी बोलने वाले लोग इसलिए साथ आ जाएं कि वे आपस में एक प्रकार की एकजुटता महसूस करते हैं। और इस तरह से संभव है कि वे अन्य लोगों से एक दूरी बना लें और इस बात पर जोर देने लगें कि वे बिहारी और बंगालियों से कम नहीं हैं। या फिर ये हैसियत समूह उन लोगों के भी हो सकते हैं जिनके पास आईआईटी से डिग्रियां हैं और वे एक ही कंपनी में काम करते हैं इसलिए एक अलग समूह बनाना शुरू कर दें और ये सोचना कि वे दूसरों से अलग व बेहतर हैं। अलग-अलग तरह के अनुभव और सांस्कृतिक समझ भी हैसियत समूह के बनने को बढ़ावा दे सकते हैं।

स्कूल व कॉलेज सिर्फ बेहतर नौकरियों में जाने के लिए नहीं हैं बल्कि ये हैसियत समूहों में बंटने के भी रास्ते खोलते हैं। जब माता-पिता बच्चों के अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में दाखिले के लिए संघर्ष करते हैं तब वे केवल नौकरियों के बेहतर अवसर निर्मित करने की ही कोशिश नहीं कर रहे होते बल्कि अंग्रेजी बोलने वाले सर्कल में शामिल होकर वे अपनी और अपने बच्चों की हैसियत या प्रतिष्ठा बढ़ाने की कोशिश भी कर रहे होते हैं। वेबर ध्यान दिलाते हैं कि हैसियत समूहों की सदस्यता ऊंची प्रतिष्ठा और ताकत की भी निशानी हो सकती हैं। वेबरवादी समाजशास्त्रियों का कहना है कि बहुत कुछ जो शिक्षा के नाम पर हो रहा है वह इसलिए नहीं हो रहा कि यह बच्चों के लिए आवश्यक तौर पर 'अच्छा' ही है बल्कि यह एक तरीका है जिसके माध्यम से वे उच्च-प्रतिष्ठा या हैसियत समूहों में प्रवेश पा सकते हैं या कम से कम उसका दिखावा तो कर ही सकते हैं। यह भी एक कारण है जिसकी वजह से मिशनरी विद्यालय के प्रति एक आकर्षण पैदा हुआ था, उन्होंने यह सिखाया कि ऊंचे सामाजिक औहदे वाले लोगों की तरह कैसे बोलना है, कैसे खड़े होना है, कैसे कपड़े पहनना है और किस तरह की रुचियां रखनी हैं। और यह भी एक वजह हो सकती है कि क्यों शिक्षा को लेकर होने वाले झगड़े प्रान्तीय बोर्ड के स्कूलों में प्रवेश लेने के लिए थे जहां हर कोई जाता है या फिर सीबीएसई से जुड़े हुए स्कूलों में प्रवेश पाने के लिए होते थे जहां उन लोगों के बच्चे जाते थे जो ऊंचे औहदों पर हैं। बड़े शहरों में आजकल कुछ अभिभावक अपने आप को श्रेष्ठ महसूस करते हैं यदि वे यह कह सकते हैं कि उनके बच्चे अन्तर्राष्ट्रीय बोर्ड में पढ़ते हैं जहां आईबी और ए लेवल जैसी डिग्रियां प्रदान की जाती हैं। हालांकि, किसी खास स्कूल में पढ़ने के जाहिर है कि कुछ आर्थिक एवं शुद्ध शैक्षिक कारण भी हो सकते हैं लेकिन वेबरवादी हमें यह समझने में मदद करते हैं कि हैसियत समूहों की सदस्यता भी एक घटक है जिसकी भूमिका देखी जा सकती है।

निचले औहदे के हैसियत समूह ऊंचे औहदे के हैसियत समूहों की नकल करने की कोशिश करते हैं या कोई सदस्य व्यक्तिगत तौर पर उच्च समूह में शामिल होने की कोशिश कर सकता है। शिक्षा आज के दौर में ऐसा करने हेतु सबसे ताकतवर तरीकों में से एक है। इसी बीच ऊंचे औहदे वाले समूह ऊपर चढ़ने वालों को वापस धकेलने की भी कोशिश करते हैं। दरअसल वे ऊंचे औहदे पर इसलिए ही विराजमान हैं क्योंकि वे यह कह सकते हैं कि वे दूसरों से 'अलग' हैं। यदि निचले समूह आपके पड़ौस में जमा हो गए हैं तो जवाब यही होगा कि आप उन्हें बाहर रखने की कोशिश करें या फिर और भी अधिक अनन्य या एकांत इलाके में चले जाएं। यदि किसी की हैसियत स्कूल में संस्कृत सीखने से बनी है और यदि फिर सभी संस्कृत सीखने लगें तो जो ऊंची हैसियत हासिल करना चाहते हैं वे चाहेंगे कि उनके बच्चे इसकी बजाय जर्मन या फ्रेंच सीखें।

शिक्षा का तार्किकरण

हैसियत समूहों के बीच होने वाले इसी तरह के संघर्षों से शिक्षा व्यवस्था आकार लेती है। लेकिन इसी के साथ वेबर ये भी कहते थे कि हैसियत समूहों की सदस्यता और जिस तरह की शिक्षा हम चाहते हैं, वह चारित्रिक तौर पर भी एक मौलिक बदलाव के दौर से गुजर रही है। 18वीं सदी के यूरोप में एक शिक्षित व्यक्ति वह था जो संगीत जानता था, ग्रीक दर्शन पढ़ता था और जिसकी एक खास किस्म की 'परिष्कृत' जीवन शैली थी। एक भद्र पुरुष होने का मतलब था कुछ खास व्यक्तिगत गुणों का मौजूद होना। जैसा कि वेबर कहते थे, शिक्षा के मायने हैं एक खास करिश्माई व्यक्तित्व और शैली से युक्त होना। लेकिन, शिक्षा के साथ अन्य सभी चीजें भी नौकरशाही व तार्किकरण की दिशा में बढ़ रही हैं। हम अपना काम किस तरह से करते हैं यह व्यक्तिगत रवैए और रुझानों से तय नहीं होता है। बल्कि यह कुछ नियमों और व्यवस्था द्वारा निर्देशित है। अब लगभग हर चीज एक तार्किक और नौकरशाही तरीके से चलती है। जहां पहले शिक्षित होने का मतलब काफी व्यक्तिगत किस्म की कुछ विशेषताओं का पाया जाना था वहीं अब इसके मायने नौकरशाही से प्राप्त प्रमाण-पत्रों का होना है। एक व्यक्ति करिश्माई वक्ता हो सकता है जो कि काफी विद्वान और समझदार हो, लेकिन यदि उसके पास ग्रेड 12 या किसी कॉलेज की डिग्री ना हो तो उसे अशिक्षित घोषित कर दिया जाता है।

मेरी मां की दादी ने यह बदलाव अपनी आंखों से देखा था और वह अपनी तरह से इसके खिलाफ लड़ती रहीं। मैंने बहुत सी कहानियां सुनी हैं कि कैसे ये युवा अपनी पांचवी और आठवीं पास होने की पहचान के साथ गर्व के साथ आते थे और वह उनसे पूछती थी कि क्या वे यूसुफ जुलेखां को गा सकते हैं जो कि एक लोकप्रिय पंजाबी सूफी रचना थी। वह मूंह बनाते हुए कहती थी कि ये लोग सूफी कविता को महसूस नहीं कर सकते और खुद को 'शिक्षित' कह रहे हैं। शिक्षित होने के मायने थे, व्यक्तिगत रूपांतरण, जो आपके शरीर के अंतर में घटित हो। शिक्षा के सर्वोच्च शिक्षाक्रम को कभी-कभी 'दर्शन' भी कहा जाता था जहां जानने के मायने थे एक ऐसा अनुभव जो आपको ऊंचा उठा दे, आपको जागृत कर दे, ज्ञान की रोशनी से भर दे। जबकि शिक्षा के तार्कीकृत विवेचन में जो महत्त्वपूर्ण बन गया वह है, ऐसे कौशलों और ज्ञान का होना जिनका परीक्षा में प्रदर्शन किया जा सके।

सामाजिक जीवन के तार्कीकरण और नौकरशाहीकरण के कई परिणाम सामने आए। वेबर कहते थे कि इनमें से एक था हमारे शिक्षित व्यक्ति के आदर्श का परिवर्तित हो जाना। एक सुसंस्कृत व्यक्ति जिसकी अपनी अनूठी संवेदनाएं हों, जिसे सही और गलत का बोध हो, जो सुंदर और कुरूप में भेद कर सके, से एक तकनीकी व्यक्ति में तब्दील हो जाना जो दक्ष हो, नियमों को जानता हो, और संगठन के ढांचे में ठीक से काम करने के लिए प्रतिबद्ध हो। जाहिर है कि शिक्षा की पुरानी वैयक्तिक किस्म की समझ काफी गैर-समावेशी थी यानि कुछ खास छोटे समूह ही सुसंस्कृत माने जा सकते थे। जबकि शिक्षा का नया स्वरूप, अपने नौकरशाही चरित्र की वजह से, कहीं अधिक लोगों तक अपनी पहुंच बना सकता है और यह अधिक लोकतांत्रिक है। लेकिन इसके लिए जो मूल्य चुकाना होगा, वह है उस सौंदर्य और व्यक्तिगत महानता को खो देना।

क्रीडेंशलिज्म और सामाजिक असमानता

शिक्षा की विषयवस्तु जो भी हो-गहरा भावनात्मक रूपांतरण या फिर पहाड़ों को रटना - वेबरवादियों का विश्वास है कि यह हैसियत समूहों के बीच राजनीति व ऊंचे औहदों के लिए प्रतियोगिता की ओर ले जा सकता है। हैसियत समूह आगे रहने के लिए एक-दूसरे के साथ संघर्ष करते हैं। शिक्षा की गुणवत्ता में भले ही फर्क आ गया हो लेकिन हैसियत समूहों की राजनीति समकालीन दौर में भी उसी तरह से जारी है।

अमेरिकन समाजशास्त्री रैंडल कालिंज को शिक्षा के वेबरवादी विश्लेषण के लिए जाना जाता है। वे यह मानते हैं आजकल स्कूल व कॉलेज शिक्षा बहुत महत्वपूर्ण दिखाई देती है और ज्यादातर लोग इसे प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन एक वेबरवादी होने के नाते वे इसकी सामान्य प्रकार्यवादी व्याख्या को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। प्रकार्यवादी कहेंगे कि नौकरशाही से ग्रस्त शिक्षा इसलिए लोकप्रिय हो गयी है क्योंकि यह कुछ खास किस्म के ज्ञान को सिखाती है जो आर्थिक विकास के लिए फायदेमंद है। नई नौकरियां पैदा हो रही हैं जिनके लिए नए तरह के ज्ञान की जरूरत है।

शिक्षा ने इस ज्ञान को उपलब्ध कराया है और इससे अपेक्षा है कि यह आपको अपनी नौकरियों में बेहतर प्रदर्शन करने के लिए तैयार करे। कॉलिंज ने यूएसए के एक हिस्से में पिछले समय में विभिन्न किस्म की नौकरियों के लिए डिग्री की बढ़ती हुई आवश्यकता के संदर्भ में ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। उन्होंने यह दिखाया कि कई नौकरियां दशकों से एक जैसी बनी हुई हैं लेकिन उन्हें हासिल करने हेतु शैक्षिक अर्हता या पात्रता काफी बढ़ चुकी थी। सामान्यीकृत तरीके से यह नहीं कहा जा सकता कि, क्योंकि शिक्षा नए कौशलों को उपलब्ध करा रही थी और इसलिए शैक्षिक पात्रता बढ़ गई थी। अकुशल व अर्धकुशल नौकरियां जो काफी कुछ वैसी ही बनी हुईं थीं और तब भी उनके लिए अब कम से कम स्कूली शिक्षा होने की आवश्यकता थी।

ना ही ऐसा था कि नई नौकरियों में ऐसे किसी खास ज्ञान की आवश्यकता थी जिसे केवल शिक्षा ही उपलब्ध करा सकती थी। मैंने कई बार इंजीनियरों को यह कहते सुना है कि उनके अधिकतर कामों के लिए जो जरूरी है वह है बस कक्षा 12 तक की विज्ञान और शायद एक साल का अतिरिक्त प्रशिक्षण। वे सोचते हैं कि उन्हें बी टेक में पूरे चार साल क्यों गंवाने पड़े। कई तरह के कैरीअर में सेवाकालीन प्रशिक्षण ही उनमें अच्छा प्रदर्शन करने हेतु काफी होता है। तो फिर लोग उनके लिए डिग्रियां क्यों चाहते हैं? रैंडल कॉलिंज इसके लिए एक संभावित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए, एक ऐसे समय की कल्पना कीजिए जब बस कंडक्टर की नौकरी के आवेदन करने वाले कुछ ही लोग हों। इस काम के लिए जो चाहिए वह है बस कक्षा 5 तक का अंकगणित ज्ञान। आपको सिर्फ इतना आना चाहिए कि कैसे जोड़ते हैं, कैसे घटाते हैं और किस तरह पैसे और टिकिटों को गिनना है। जब बहुत ही कम आवेदन प्राप्त हुए हों तो बस कम्पनी कक्षा 5 पास अभ्यर्थियों को ले लेगी और उसकी भर्ती पूरी। लेकिन जब अन्य लोगों को यह जानकारी मिलेगी और वे भी कक्षा 5 के प्रमाणपत्र प्राप्त करना शुरू कर देते हैं और जब हजारों आवेदन कुछ दर्जन भर पदों के लिए होने लगते हैं तो चीजें मुश्किल होना शुरू हो जाती हैं। हजारों आवेदनों में से आप कैसे चुनाव करें? तब बस कम्पनी यह कहना शुरू करती है कि वे केवल 12वीं पास वालों को ही लेंगे ना कि 5वीं पास वालों को। इससे आवेदनकर्ताओं की संख्या बहुत कम रह जाती है और ऐसा भी प्रतीत होता है कि चुनावी प्रक्रिया तटस्थ और पक्षपातहीन रही है। कॉलिंज कहते हैं कि इस तरह से बढ़ाई गई आवश्यक पात्रता ही शिक्षा के लिए इतनी अधिक मांग के लिए जिम्मेदार थी। यह केवल बेहतर ज्ञान के लिए मांग नहीं थी। यह कुछ खास हैसियत समूहों (उस तरह के लोग जो कि 12वीं की डिग्री प्राप्त कर सकते थे) को अंदर रखने और कुछ हैसियत समूहों (उस तरह के लोग जो कि सिर्फ 5वीं तक ही पढ़ सकते थे) को बाहर रखने का एक तरीका भी था।

रैंडल कॉलिंज कहते थे कि हमने आज एक ऐसा समाज बना लिया है जिसे वे 'अर्हता (क्रीडेंशल) समाज' कहते थे। अर्हता और डिग्रियों के मुखौटे के पीछे जो यह असमानता काम कर रही थी वहां लोगों को शिक्षा नहीं बल्कि डिग्रियां और प्रमाणपत्र चाहिए थे। यही वे साधन थे जिनकी मदद से कुछ खास हैसियत समूहों की ताकत को बनाए रखा जा सकता था और अन्य हैसियत समूहों को ताकतवर बनने से रोका जा सकता था। यह सबसे विकसित पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ-साथ उन देशों में भी सामान्य था जहां अब भी सामुदायिक पहचानों को खुले तौर पर तवज्जो मिलती थी। कॉलिंज के अनुसार, इसका कारण यह था कि हालांकि हमने संगठनों का 'तार्कीकरण व नौकरशाहीकरण कर दिया था फिर भी वहां रहने वाले लोग अपने जैसे लोगों को ही आस-पास देखना चाहते थे।

वेबर को ही प्रतिध्वनित करते हुए कॉलिंज कहते थे कि किसी भी संगठन में जो घट रहा है उसे नियंत्रित करने के लिए हमेशा एक संघर्ष पाया जाता है। यह हमारे मनुष्य होने का एक हिस्सा है, हम हमेशा से ही चीजों को नियंत्रित करना चाहते हैं और उन्हें अपने अनुसार मोड़ना चाहते हैं। आरम्भिक मार्क्सवादियों को लगता था कि संसाधनों पर यदि सभी का समान नियंत्रण हो तो यह समाज में होने वाले झगड़ों को निबटाने के लिए काफी है। वेबरवादी दृष्टिकोण हमारे इन दुखों के इतने सरल और संतोषजनक हल की उम्मीद को अस्वीकार करता है। कई सारे बुद्धिजीवी मानते हैं कि खुद मार्क्स भी इसमें भरोसा नहीं करते थे कि संपत्ति के पुनर्वितरण पर आधारित क्रांति सभी तरह के संघर्षों को अंत की ओर ले जाएगी। वेबरवादी स्पष्ट हैं कि संघर्ष जारी रहेंगे और इसका कारण यह है कि हम हमेशा चीजों को अपनी तरह से चलाना चाहते हैं और दूसरे अपनी तरह से। हां, हम झगड़ों को कम कर सकते हैं और उन्हें रचनात्मक दिशा में मोड़ सकते हैं। इनका ऐतिहासिक चरित्र बदल सकता है लेकिन संघर्ष मौजूद रहेंगे।

संगठनों के भीतर लोग उन लोगों को भर्ती करना ज्यादा सुविधाजनक महसूस करते थे जो उन्हीं की तरह महसूस करते व सोचते थे। इससे जो लोग जिम्मेदार हैं उनके अजेंडे को आगे बढ़ाने में मदद मिलती थी। लोग जो अलग तरह से सोचते, वे तर्क-वितर्क करते, असंतुष्ट रहते और सामान्यतया ऐसे लोगों को अपेक्षित दिशा में जाने के लिए मनाने हेतु काफी कोशिशें करनी पड़तीं। इसका जवाब यही था कि ऐसे लोगों को लें जिनका हैसियत समूह तो कम से कम वही हो जो कि संस्था में मौजूद लोगों का है। यह और भी ज्यादा तब अपेक्षित था जबकि दो या अधिक हैसियत समूह संस्था को नियंत्रित करने के लिए संघर्ष कर रहे हों। उदाहरण के लिए, यदि टैगोर की विचारधारा को मानने वाले लोग किसी स्कूल में बीएड स्नातकधारियों से इस बात पर संघर्ष कर रहे हों कि स्कूल को कैसे चलाना है तो जाहिर है वे सामान्य बीएड स्नातकों की बजाय शांति निकेतन के स्नातकों को प्राथमिकता देंगे। संस्था के भीतर होने वाले संघर्षों में किसी हैसियत समूह की साझा सदस्यता एक मुख्य संसाधन थी।

अधिक अंक प्राप्त करने की कोशिश और खास किस्म की डिग्रियां आंशिक तौर पर ही सही पर किसी ताकतवर हैसियत समूह में शामिल होने के लिए भी एक संघर्ष था। यह एक किस्म की रस्साकशी की प्रक्रिया थी। उच्च हैसियत समूह अपने आप को खास और दूसरों से अलग दिखा कर अपने औहदे को बरकरार रखते थे। अगर उन्हें और सभी की तरह ही बनना होता तो वे बिलकुल साधारण दिखाई देते और अपने ऊंचे औहदे को खो देते। उदाहरण के लिए एलएलबी की डिग्री का उदाहरण लेते हैं। कोई सौ साल पहले यह सबसे ज्यादा इच्छित डिग्री हुआ करती थी और एक तरह से समृद्ध जीवन का पासपोर्ट थी। आप एक पश्चिमी जीवनशैली वाले व्यक्ति बन जाते थे ताकतवर लोगों के साथ कंधे मिलाते थे और सम्मान व ताकत हासिल करते थे। बहुत सारे लोग वकील बनने का सपना देखते थे लेकिन बहुत कम बन पाते थे। तब विश्वविद्यालयों ने कानून विभागों की संख्या बढ़ानी शुरू कर दी और उनके नामांकन की भी। लगभग तीस साल पहले तक एक ऐसी स्थिति आ गई जहां, उदाहरण के लिए पंजाब विश्वविद्यालय में ये हाल था कि यदि आपको कहीं और दाखिला नहीं मिला है तो आपको कानून विभाग में तो प्रवेश मिल ही जाता

हाल यह था कि कोई एक पत्थर फैंके तो यह वकालत का चोगा पहने तीन कंगाल वकीलों को लगता। हैसियत समूह के तौर पर वकीलों का सम्मान तेजी से गिर चुका था। उसके बाद राष्ट्रीय लॉ स्कूल आए और कंपनियों ने उनसे अपने आंतरिक, घरेलू वकीलों को भर्ती करना शुरू कर दिया। पदों की संख्या बहुत कम होती थी इसलिए भारी प्रतियोगिता पैदा हो गई। अब वकीलों के कई स्तर हो गए कुछ को भारी तनख्वाह मिलती थी, कुछ को बहुत कम।

वेबरवादी कहेंगे कि आजकल ऐसी संस्थाओं के लिए प्रतियोगिता इसलिए है क्योंकि एक छोटा-सा हैसियत समूह है जिसकी तनख्वाह और हैसियत में बाकी सभी से काफी बड़ा फर्क है। एक बड़ी संख्या है जो इसमें प्रवेश पाना चाहती है और इस हैसियत समूह में प्रवेश पाना मुश्किल है, इसका कारण यह नहीं है कि लोग इसमें अपनी जगह बनाने के लिए पर्याप्त काबिल नहीं हैं बल्कि कारण यह है कि सबसे ऊपरी पायदान पर मौजूद हैसियत समूह की हैसियत इसलिए बरकरार है क्योंकि वे संख्या में कम हैं और अपनी विशिष्टता बनाए हुए हैं। अगर ऊपरी पायदान पर मौजूद हैसियत समूह अन्य लोगों को शामिल करने लगे तो वह अपने विशेष और अनूठे होने की प्रतिकात्मकता से जो प्रभाव रचते हैं उसे खो देंगे। फिर ये कैसे संभव होगा कि वह व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए जरूरी सम्मान और ताकत हासिल कर सकें।

शिक्षा व्यवस्था में बड़े-बड़े बदलाव हैसियत समूहों के बीच होने वाले संघर्षों से उपजते हैं। भारत में कुछ समुदाय हैं जो अधिक सम्मान और हैसियत हासिल करने की कोशिश कर रहे हैं, हो सकता है वे इसके लिए स्कूल खोलने का रास्ता चुनें। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण दक्षिण भारत के 'इरवा' और 'नादरों' का है। जब उन्होंने जातिगत मूल्यों से नियंत्रित समाज में ऊंचा ओहदा और ज्यादा सम्मान प्राप्त करने हेतु संघर्ष किए तो बीसवीं सदी के मोड़ पर उन्होंने शिक्षा को इसका एक अच्छा जरिया पाया। पूरे भारत में हमें ऐसे कई अन्य समुदाय मिल जाएंगे जो स्कूल खोलकर या अपने बच्चों की शिक्षा को बढ़ावा देकर अपनी हैसियत को बढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं। मार्ग्रेट एस. आर्चर (1982) कहती हैं कि उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी यूरोप में स्कूलों का विकास और विस्तार मुख्य तौर पर इसी तरह के उद्देश्यों से संचालित रहा। यदि एक हैसियत समूह ने दूसरों की तुलना में अधिक सम्मान हासिल करने के लिए संघर्ष किया, तो स्कूलों की संख्या और पहुंच में वृद्धि हुई।

वेबरवादी समाजशास्त्र हमें पुनः इस पर विचार करने के लिए कहता है कि शिक्षा की दुनिया में क्या हो रहा है और क्या यह हैसियत समूहों के बीच होने वाली राजनीति की वजह से है या कुछ ऐसी वजहों से जो कि अपने आप में कुछ ज्यादा उचित हैं। कुछ कोर्सों में दाखिले के लिए जो अत्यधिक ऊंचे अंकों की जरूरत है, यह इस बात का प्रतीक हो सकती है कि कुछ खास संस्थानों व अन्य के बीच हैसियत और शक्ति में एक बहुत बड़ा अंतर है। यह अंतर कई वजहों से हो सकता है, जिसमें यह भी शामिल है कि उच्च हैसियत समूह दूसरों को अपने सर्कल में शामिल करने के लिए इच्छुक नहीं हैं। प्रतिष्ठा केवल आंतरिक अच्छाई के अतिरिक्त अन्य कई कारणों से भी हो सकती है। प्रायः यह इसलिए होती है क्योंकि यह ताकत और प्रभुत्व बनाए रखने की काबिलियत से जुड़ी होती है।

इसे देखने का एक दूसरा तरीका 1920 के दशक में गांधी द्वारा छात्रों से की गई उस अपील में दिखाई दिया जब उन्होंने ब्रिटिश राज द्वारा स्थापित स्कूलों और कॉलेजों को छोड़कर आने के लिए कहा। वे एक वैकल्पिक किस्म के हैसियत समूहों का निर्माण करना चाहते थे जो ब्रिटिश राज द्वारा स्थापित सामाजिक ताने-बाने और संस्कृति को चुनौती दे सकें। उनकी एक छोटी-सी पुस्तिका ''रचनात्मक कार्यक्रम'' (गांधी, 1945) में एक टिप्पणी में वेबरवादी समाजशास्त्र की प्रतिध्वनि देखकर मैं अवाक रह गया। उन्होंने कहा कि वे जानते थे कि भारतीय ब्रिटिश स्कूल और कॉलेजों में क्यों जमा होना चाहते थे। ''यह एक बेहद आकर्षक सर्कल में प्रवेश पाने का पासपोर्ट है'' (पृ. 27)। लेकिन उन्होंने विद्यार्थियों को निकलकर कांग्रेस पार्टी के कार्य में उनके साथ शामिल होने का न्यौता दिया। आखिर वे खुद भी एक अलग किस्म के विश्विद्यालय के विद्यार्थी थे।

वेबरवादी हमें यह समझने में मदद करते हैं कि शिक्षा ऐसे हैसियत समूहों को शक्ति प्रदान करने का एक तरीका हो सकता है जिनका ज्ञान और संस्कृति शायद वास्तव में उस सम्मान के योग्य नहीं है जो कि उसे मिला हुआ है। अगले लेख में हम पियरे बोर्दियो के काम को समझेंगे जो शिक्षा के माध्यम से शक्ति और नियंत्रण हासिल करने के हैसियत समूहों के मन-गढ़न्त तौर-तरीकों और उनकी संस्कृति की छानबीन करने वाले महान विद्वानों में से एक रहे हैं। जब हम एक सार्थक, न्यायपूर्ण और वैध किस्म की शिक्षा का निर्माण करना चाहते हैं तो इस तरह के खतरों से सावधान रहना मददगार होता है। ◆

लेखक परिचय : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्रा का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्रा के प्रोफेसर हैं।

संपर्कः amman.madan@apu.edu.in

संदर्भ :

Archer, Margaret S. 1982. The Sociology of Educational Expansion: Take-off, Growth and Inflation in Educational Systems. Beverly Hills; London: Sage Publications Inc.

Gandhi, M.K. (1945) 1991. Constructive Programme: Its Meaning and Place. Ahmedabad: Navjivan Trust.

अतिरिक्त पठन सामग्री :

Collins, Randall. 1971. 'Functional and Conflict Theories of Educational Stratification'. American Sociological Review 36 (6): 1002-19.

(1971) 2010. 'शैक्षिक स्तरण के प्रकार्यवादी और द्वंद्वात्मक सिद्धांत'. Shiksha Vimarsh 12 (2): 105-20.

Madan, Amman. 2014. 'Max Weber's Critique of the Bureaucratisation of Education'. Contemporary Education Dialogue 11 (1): 95-113.

Rao, Srinivasa S., and Smriti Singh. 2018. 'Max Weber's Contribution to the Sociology of Education: A Critical Appreciation'. Contemporaray Education Daologue 15 (1): 73-92.

प्रस्तावित शिक्षा नीति

संभावनाएं और चुनौतियां

ऋषभ कुमार मिश्र

प्रस्तावित शिक्षा नीति लोकतांत्रिक भागीदारी द्वारा रूपाकार होने की अवस्था में है। इस नीति का मसौदा प्रत्येक भारतीय की राय के लिए सार्वजनिक किया गया है। इस मसौदे को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि एक यूटोपियन भारतीय समाज और इसकी शिक्षा व्यवस्था के लिए सुंदरतम शब्दों, मुहावरों और तरीकों के साथ एक नई व्यवस्था रूपाकार होने जा रही है। यह नीति वर्तमान और भविष्य (2030-35) के बीच राज्य के रुख को स्पष्ट करती है। इस नीति में एक सकारात्मक सोच निहित है जो शिक्षा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के निजी और नागरिक जीवन को समृद्ध करना चाहती है। नई शिक्षा नीति के प्रस्तावित मसौदे के आरंभ में ही स्पष्ट किया गया है इसका लक्ष्य शिक्षा द्वारा भारत के प्रत्येक व्यक्ति का सर्वांगीण विकास है। जहां-जहां सर्वांगीण विकास का उल्लेख है वहां प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः इस विकास को ज्ञान आधारित समाज, 21वीं सदी की दुनिया की दक्षताओं-आलोचनात्मक और सृजनात्मक चिंतन, निर्णय लेना आदि के साथ चौथी औद्योगिक क्रान्ति की तैयारी और संवैधानिक मूल्यों, खासकर समानता, के सापेक्ष परिभाषित किया गया है। इस वैश्विक दृष्टि के साथ इतिहास बोध और सांस्कृतिक अस्मिताओं के पक्ष को पूरा स्थान देकर यह प्रयास किया गया है कि परंपराओं, इतिहासों, संस्कृतियों और मूल्यों के साथ 21वीं सदी की जरूरतों को पूरा किया जाए। इन दोनों आयामों का संतुलन ही 21वीं सदी का भारत बनाएगा ऐसी मान्यता इस नीति में निहित है। यह मान्यता दुधारी तलवार के समान है। यदि नीति के क्रियान्वयन में किसी एक के पक्ष में झुकाव हुआ तो वह भारतीयता के सामासिक अर्थ का विग्रह कर देगा। यह भी ध्यान देना आवश्यक है भारतीयता का असल अर्थ उसके बहुवचन में है। देखना है कि यह नीति इस बहुवचन को कैसे क्रियान्वित करती है? इस प्रस्तावित नीति को दो दृष्टियों से समझने की आवश्यकता है। प्रथम इस नीति की कौन सी संस्तुतियां 'नए भारत' के लिए नयी शिक्षा प्रणाली हेतु हैं? दूसरा, ये संस्तुतियां वर्तमान भारत के एक नए भविष्य की कल्पना किस रूप में करती है? आखिरी शिक्षा नीति वर्ष 1986 में आई थी। तब से अब तक का भारत बदल चुका है। जन शिक्षा का प्रसार, स्कूली शिक्षा का मौलिक अधिकार, उच्च शिक्षा का व्यावसायिक ढांचा, निजी क्षेत्र का पर्याप्त प्रसार, शैक्षिक प्रशासन और वित्त में सुधार व बढ़ोत्तरी के प्रयास आदि के आंकड़े इसकी गवाही देते हैं। इसके साथ ही वर्तमान में नई संभावनाएं और चुनौतियां भी हमारे सामने खड़ी हैं। उदाहरण के लिए- नगरीकरण लगातार बढ़ रहा है। हम पर्यावरणीय संकट से जूझ रहे हैं। क्षेत्रीय विषमताएं बढ़ी हैं। बेराजगारी के आंकड़े भी चिंताजनक है। वैश्विक राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियां इस तरह निर्मित हो चुकी हैं कि वैश्विक स्तर पर सुदृढ़ स्थिति के बिना आर्थिक अवसरों का लाभ नहीं उठा सकते हैं। सामाजिक और वैचारिक स्तर पर अस्मिता की राजनीति नई चुनौतियां खड़ी कर रही है। आज हम डिजिटल क्रांति को स्वीकार कर चुके हैं लेकिन इसकी लागत अभी भी अधिक है। शिक्षार्जित ज्ञान और कुशलता के आधार पर 'हैव्स' और 'हैव्स नॉट' का नया वर्ग पैदा हो चुका है। इस 'नए भारत' के लिए शिक्षा एक 'लोकवस्तु' है, इसे स्वीकार करते हुए प्रस्तावित नीति इसकी उपलब्धता, गुण और व्यवस्था का दायित्व राज्य को सौंपती है। इस नीति

को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि नीति निर्माताओं के दिमाग में एक ऐसा काल्पनिक औद्योगिक समाज बैठा है जो लगभग दो सदी की संघर्ष-यात्रा के बाद खेतीहर समाज के केचुल को छोड़कर 'वैश्विक' हो चुका है। इस वैश्विक समाज के नागरिक मॉडल को यह शिक्षा नीति सार्वभौमिक करना चाहती है।

शिक्षा के 'स्थायी संकटों' के प्रति रुख

प्रस्तावित नीति 'नए भारत' के स्थायी शिक्षा संकटों- परीक्षा केन्द्रित रटंत प्रणाली, अध्यापकों की चुनौतियां और समस्या, शोध का अभाव, संस्थानों में तालमेल- से मुक्त करना चाहती है। शिक्षा नीति 'नए भारत' में विकास के लिए आवश्यक सांस्कृतिक पूंजी के प्रसार को मध्यमवर्ग तक सीमित न रखकर वहां तक पहुंचाना चाहती है जहां इसे खरीदने की क्रय शक्ति नहीं है, जहां इसकी सुविधा नहीं है और इसके अभाव में जहां विकास के बाधक फल-फूल रहे हैं। यही इस नीति की सुंदरता और सीमा है। उदाहरण के लिए जिन आयामों और गुणों को इस शिक्षा नीति में मानव विकास का संकेतक माना गया है उन्हें भारत का वृहद् मध्यम वर्ग आधुनिक प्रगतिशील स्कूलों व उच्च शिक्षा के चुनिंदा श्रेष्ठ केन्द्रों में खरीद रहा हैं लेकिन जो बड़ा जनसमुदाय इसके दायरे से बाहर है वहां भी इस सांस्कृतिक पूंजी को पहुंचाने का नैतिक और कानूनी दायित्व राज्य को सौंपना इस नीति का ध्येय है। इसके लिए यह नीति व्यवस्था के स्तर पर क्रियान्वयन, जवाबदेही और निगरानी की विधियां सुझाती है। राष्ट्रीय शिक्षा आयोग, अभिक्षमता परीक्षण, विशेष शिक्षा क्षेत्र आदि इसके उदाहरण हैं। देखना है कि ये प्रस्तावित व्यवस्थाएं परिकल्पित गुणों को कैसे कार्यरूप देंगी?

इस नीति में औपचारिक शिक्षा की एक नयी रूपरेखा सुझाई गई है जिसके अंतर्गत किसी भी व्यक्ति के लिए 3 वर्ष की आयु से 18 वर्ष की आयु तक शिक्षा का प्रबंध है। इस नीति का उल्लेखनीय पक्ष है कि पूर्व विद्यालयी शिक्षा को शिक्षा के अधिकार कानून और 'पोषण के साथ सीखने' की आधारभूत मान्यता के रूप भी औपचारिक शिक्षा से जोड़ा गया है। स्कूली स्तर पर यह नीति आधारभूत दक्षताओं के विकास की चुनौतियों से हर हालात में पार पाना चाहती है। यद्यपि नीति में इसके लिए यथोचित उपाय दिए गए हैं लेकिन ये उपाय मुहावरेदार अधिक हैं। इनमें आंतरिक विसंगतियां भी हैं। जैसे- इस नीति में गुरुकुल, मदरसों और परिवारों, सीखने के सांस्कृतिक तरीकों का संदर्भ लिया गया है। उनकी विशेषताएं बताई गई हैं। यह भी सुझाव है कि इन्हें आने वाले समय में स्कूल की संस्था में स्थापित कर दिया जाए। इस सुझाव के मूल में ही विरोधाभास है। गुरुकुल या परिवार, नौकर-हाकिम जैसे संबंधों से नहीं चलते। न ही वे समाज को ज्ञान बांटते हैं। ऐसी अधिगम पारिस्थितियों में सबके ज्ञान को महत्व मिलता है जिसे ठोस और विभाज्य दक्षताओं में नहीं देख सकते। ऐसे ही स्कूलों के लिए नेशनल ट्यूटर प्रोग्राम और सामाजिक कार्यकर्ताओं के सहयोग जैसी संस्तुतियां भी विसंगति युक्त हैं। ये भूमिकाएं शिक्षकों के समांतार होंगी, परिणामस्वरूप उन पर हावी होंगी या अनुषंगी बनकर पैरा-शिक्षकों जैसी समस्याएं पैदा करेंगी? ऐसे ही उपाचारात्मक शिक्षण के लिए प्रयोग भी यथार्थ से दूर अति आदर्शवादी जान पड़ते हैं। स्कूल स्तर पर मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का आग्रह भारतीय नीतियों की एक सीमा रही है। यह नीति भी इस सीमा से ही जूझती नज़र आ रही है। मूल समस्या सीखने वाले का संदर्भ, सिखाने वाले की मंशा और सीखने की सामग्री के बीच का तालमेल है। इसका रास्ता व्यक्ति और संस्था के स्तर पर जिस स्वायत्तता और आजादी की मांग करता है उसकी संभावनाएं इस नीति में है लेकिन वे किस सीमा तक हमारे सांस्कृतिक संदर्भों के साथ संबंध बना पाते हैं यह विचारणीय है। ऐसे ही उच्च शिक्षा में अंतरानुशासनिक और लिबरल विषयों की शिक्षा द्वारा नई युवा शक्ति को तैयार करने का लक्ष्य है जिसकी शोधपरक चिंतन दृष्टि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी व्यक्ति, समाज और देश को मजबूत करे। उच्च शिक्षा वाला अध्याय पढ़ते समय कई बार ऐसा लगता है कि नीति निर्माताओं ने अपनी खुद की शिक्षा और पेशेवर जीवन का मूल्यांकन कर उसमें जो अभाव रह गया था उसकी प्रतिपूर्ति के लिए यह दस्तावेज तैयार किया है। इस दस्तावेज के प्रत्येक खंड में जिन लक्ष्यों का उल्लेख किया गया है वे बेहद रूमानी, आकर्षक और उम्मीद जगाने वाले हैं। लेकिन जैसे-जैसे इन अध्यायों में आगे बढ़ते हैं बिखराव, और वैकल्पिक प्रयोगों की सूचियां देखने को मिलती हैं। ये वैकल्पिक प्रयोगों की सूचियां वैसी ही है जैसे किसी शोध प्रबंध के अंत में निहितार्थ, भावी सुझाव दे दिए जाते हैं। इनमें यह मान्यता अंतर्निहित है कि उच्च शिक्षा को शोधोन्मुख करना तमाम समस्याओं का हल है। हाल ही में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने भारत के विश्वविद्यालयों में हुए शोध कार्यों की

गुणवत्ता पर सवाल उठाए हैं। ऐसी स्थिति में बिना समुचित तैयारी के शोध का राग अलापना उच्च शिक्षा में वैसी ही स्थिति न पैदा कर दे जैसे प्रोजेक्टों के नाम पर माध्यमिक शिक्षा में खानापूर्ति हो रही है। इस नीति के प्रत्येक अध्याय में पहुंच की दृष्टि से हुई प्रगति को सराहा गया है लेकिन समानता और गुणवत्ता के लिए नीति को क्रियान्वित करने पर बल दिया गया है। यह अवलोकन महत्वपूर्ण है कि प्रस्तावित नीति केवल बौद्धिक विकास द्वारा अर्जित चेतना की सीमा को रेखांकित करती है। इसी कारण पूर्व प्राथमिक से शोध स्तर तक रचनात्मक, गैर परंपरागत चिंतन, सामाजिक-नैतिक सरोकार आदि को महत्व देती है। मनुष्य कहीं रोबोट न बन जाए, कहीं उसका संस्कृति बोध कमजोर न हो, कहीं वह आत्म-केन्द्रित आर्थिक प्राणी न रह जाए, इसकी चिंता बराबर बनी हुई है। इसी चिंता से मुक्ति के लिए 'लिबरल आर्ट्स' को इस नीति में पर्याप्त स्थान दिया गया है। खासकर उच्च शिक्षा के लिए इसे अपरिहार्य कर दिया गया है। इसे उपदेशात्मक न बनाकर खुद की जिज्ञासा, अभिक्षमता और अभिरुचि के अनुरूप विकसित करने का लक्ष्य है। ऐसा जान पड़ता है कि नीति निर्माताओं का स्पष्ट मानना है कि कोरी बौद्धिकता का हृदय पक्ष से शृंगार किए बिना मानवता को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता है। हमारे अनुभव और उदाहरण भी बताते हैं कि पिछली शताब्दी की हमारी उपलब्धियों ने बौद्धिकता और आविष्कारों के शिखर पर पहुंचाया लेकिन आपसी रिश्तों, खुद से संवाद और कलात्मक अभिरुचियों के बिना दक्ष पेशवर भी अपनी 'पूर्ण संभावनाओं' को साकार नहीं कर पा रहे हैं। अब देखना यह है कि ज्ञान आधारित समाज के लिए बनी इस नीति में कला-संस्कृति-समाज के पक्ष को संजोए लिबरल आर्टस् किताबी हर्फ से बाहर निकल सीखने की संस्कृति का हिस्सा कैसे बनेगी? कैसे बाजार के लिए ज्ञान के शोर में ज्ञान के सामाजिक-नैतिक सरोकार व्यक्ति की चेतना में प्रकट होगें?

औपचारिक शिक्षा और भारतीय भाषाएं

नई शिक्षा नीति के प्रारूप में भारतीय भाषाओं से संबंधित व्यापक सुझाव दिए गए हैं। इनमें भाषाओं की शिक्षा और भाषाओं द्वारा शिक्षा विषयक चार आधारभूत मान्यताएं हैं। प्रथम, भाषा संज्ञानात्मक विकास का साधन है और बच्चे स्वभावतः एक से अधिक भाषाओं को सीखने की क्षमता से युक्त होते हैं। द्वितीय, भाषा संस्कृति को आत्मसात करने और उसे विकसित करने का आगत है। इसके माध्यम से सांस्कृतिक नैरन्तर्य को समझा जा सकता है। भाषाओं का ज्ञान ही प्राचीनतम संस्कृति को समझने, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रतिमानों के विश्लेषण और 'ग्लोबल' समाज के लिए विवेकवान नागरिक विकसित कर सकता है। तृतीय, वे भाषाएं जो बाजार, रोजगार या कह लें ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक हैं उनकी उपेक्षा कर प्रतिगमन करने की आवश्यकता नहीं है। चतुर्थ, भाषाओं को पढ़ाने के तरीके इस तरह के अपनाने होगें कि उसके लिए न तो अनुवाद के सहारे की जरूरत हो और न ही विधियां ऐसी बोझिल हो कि भाषा के सीखने में रस का लोप हो जाए। यह ध्यान रखा जाए कि भाषा शिक्षण ऐसी शिक्षण पद्धतियों से युक्त हो जहां भाषा और परिवेश के बीच कोई कृत्रिम दीवार न हो। इसके साथ-साथ विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग ज्ञानानुशासनों के लिए पर्याप्त सामग्री तैयार की जाए। स्पष्ट है कि प्रस्तावित नीति 21 वीं सदी के भारत को समझने और उसकी जरूरतों को पूरा करने के लिए भारतीय भाषाओं की महत्ता को स्वीकार करती है। यहां रेखांकित करना आवश्यक है कि इस मसौदे में जहां-जहां भारतीय भाषाओं का संदर्भ आया है वहां इसे बहुवचन के अर्थ में, सांस्कृतिक अस्मिता के प्रतीक रूप में और सामासिक संस्कृति के लक्षण के रूप में स्थापित किया गया है। इसमें भाषाओं के लिए विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक विशेष संवर्द्धन कार्यक्रमों की व्यवस्था की गई है। उदाहरण के लिए- मातृभाषा को केन्द्र में रखकर त्रि-भाषा सूत्र का सक्रिय क्रियान्वयन, विद्यालयों में भाषा शिक्षकों की नियुक्ति के दायरे का विस्तार, अध्यापक शिक्षा में स्थानीय भाषाओं के शिक्षकों की तैयारी का प्रस्ताव, विश्वविद्यालय स्तर पर भारतीय भाषाओं के लिए अध्ययन केन्द्रों/विभागों की स्थापना, भारतीय भाषाओं को वर्तमान अकादमिक संस्कृति के आयामों जैसे- शोध, प्रकाशन और प्रसार से युक्त करना, विज्ञान शिक्षण के लिए अंग्रेजी के साथ मातृभाषा का उपयोग और भारत की शास्त्रीय भाषाओं के शिक्षण की सुविधा उपलब्ध कराना। यह नीति प्रयोजनमूलक लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी भाषा की दक्षता के विकास की संभावनाओं को भी साकार करना चाहती है। इस नीति में भाषाएं भावी पीढ़ी के लिए केवल साक्षरता के रूप में परिकल्पित नहीं है बल्कि भाषाओं में निहित ज्ञानराशि को समझने का माध्यम है। यह ज्ञानराशि ही वास्तविक भारत है। इसमें बर्तन बनाने वाले, लोहे का

काम करने वाले, चमड़े के शिल्पियों जैसे कामगारों के, किसानों के और आधुनिक पेशवरों के अभ्यासजन्य और अनुभवजन्य ज्ञान संचित हैं। यह बंधुत्व और सहिष्णुता की चेतना, प्रकृति से एकता, देशज विज्ञान की संपोषणीयता का माध्यम है। विडंबना है कि उक्त ज्ञानराशि राशि धीरे-धीरे हमारी शिक्षा की मुख्यधारा में संकुचित हो चुकी है। इसका ही दुष्परिणाम है कि भावी पीढ़ी अपने आनंद और पीड़ा के रंगों का चुनाव गंगा-जमुना के मैदानों, अरावली, सह्याद्री या दण्डकारण्य आदि की लोकसंस्कृति से, केरल और तमिलनाडु के मृदु-कठोर भावों से कर पाने में सक्षम नहीं है। दुर्भाग्य यह है अपनी इस अक्षमता का उसे भान तक नहीं है क्योंकि वह अपनी जरूरतों को दूसरों की भाषा से पूरा करने का प्रशिक्षण प्राप्त कर रही है। इस तरह की एक पूरी पीढ़ी ने देखा है कि अंग्रेजी न आने के कारण उसे कितनी चुनौतियों का सामना करना पड़ा। यह पूरी पीढ़ी मां-बाप की भूमिका में अपने बच्चों को उसी अंग्रेजी का संस्कार देना चाह रही है जिसकी कमी से वे जूझते रहे। दुकान से लेकर डाइनिंग टेबल तक बच्चों को अंग्रेजी के शब्दों और 'मैनेरिज़्म' का पाठ दिया जा रहा है। इस अभ्यास से लगभग हर अभिभावक खुद को आश्वस्त कर रहा है कि उसके पाल्य को आने वाले जीवन में किसी आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ेगा। ऐसी दशा में प्रस्तावित शिक्षा नीति का वाचन करते हुए बार-बार यही सवाल उपजता है कि क्या इस नीति के अनुरूप अभिभावक अपने बच्चों के लिए अंग्रेजी भाषा और माध्यम की शिक्षा के बरक्स मातृभाषा में शिक्षा को स्वीकार करेगें? यह सवाल उस वर्ग के लिए अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है जिसकी सामाजिक गतिशीलता के लिए भाषा की सांस्कृतिक पूंजी का अभाव बड़ी समस्या है। यह सवाल केवल अभिभावकों के स्तर तक ही सीमित नहीं है। इसके समांतर अगला प्रश्न है कि क्या स्कूल नामक संस्था नवउदारवादी दबावों के बीच भारतीय भाषाओं में ज्ञान रचना के लिए तैयार हैं? इन दोनों ही सवालों के लिए अक्सर 'औपनिवेशिक' प्रभाव की दुहाई देते हुए हम पल्ला झाड़ लेते हैं। लेकिन हमें अपनी असफलता को भी स्वीकारना होगा कि आजाद भारत में मजबूत भाषा नीतियों के बावजूद पाठ्यचर्या के माध्यम और भाषा के रूप में भारतीय भाषाएं उपेक्षित हैं। इसका सरलीकृत कारण नीति का कमजोर क्रियान्वयन नहीं है बल्कि आर्थिक अवसरों, सामाजिक प्रतिष्ठा और सांस्कृतिक आभिजात्यता के नाम पर लोक जीवन का अंग्रेजीकरण है। इसके प्रभाव में भारतीय भाषाएं धीरे-धीरे अनौपचारिक कार्य-व्यापार तक सीमित होती जा रही है। वर्तमान में भाषा की एक नई समस्या है कि एक वर्ग बोलचाल, रोजमर्रा के व्यवहार और औपचारिक प्रयोग से अंग्रेजी को अपनी मातृभाषा बनाने पर तुला है। इसी वर्ग के जैसा बनने के लिए शेष समाज अपने 'संस्कृतिकरण' के लिए उनकी भाषा को अपना रहा है। यह भाषा (अंग्रेजी) आज भी सामाजिक गतिशीलता की सीढ़ी में ऊपरी पायदान पर जाने का माध्यम है। उक्त के आलोक में इस नीति में इस सवाल का उत्तर खोजना होगा कि अंग्रेजी के सांस्कृतिक आव्रजन से निपटने के लिए भारतीय भाषाओं को कैसे समर्थ बनाया जाए? इस सवाल के जवाब के लिए दो कसौटियां हो सकती हैं। पहली, हमारी भाषाएं आधुनिक राजनीतिक-आर्थिक गठजोड़ में कितनी कारगर हैं? दूसरी, हमारे वयस्क, खासकर शिक्षित वर्ग या सिविल सोसाइटी ने अपनी-अपनी मातृभाषाओं को विचार-विश्लेषण की दृष्टि से कितना समर्थ किया है? इन दोनों सवालों के उत्तर ही प्रस्तावित शिक्षा नीति के भाषा संबंधी सुझावों की सार्थकता का प्रमाण होगें।

प्रस्तावित शिक्षा नीति में 'भारत'

प्रस्तावित नीति में 'भारत' की संज्ञा एक राज्य के अर्थ में, अर्थव्यवस्था के अर्थ में, एक राष्ट्र के अर्थ में प्रयुक्त की गई है। इसमें भारत की प्रस्तुति या विचार निरपेक्ष या एकांगी रूप में नहीं है। यह सापेक्षिक भारत है। इस नीति की प्रस्तावना में ही 'गतिशील भारत' का उल्लेख है। इसकी गति की दशा और दिशा की चिंता पूरी नीति में व्याप्त है। नीति इस चिंता को केवल राज्य के बूते नहीं छोड़ती है बल्कि शिक्षा द्वारा हर देशवासी को समर्थ बनाने की परिकल्पना करती है। यह सामर्थ्य शक्ति संचय द्वारा विकृत न हो जाए इसलिए सामर्थ्य की परिभाषा को संवैधानिक मूल्यों से जोड़ते हुए सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने का लक्ष्य रखा गया है। यद्यपि यह नीति शिक्षा और मूल्यों के संबंध में किसी स्पष्ट कथन या दृष्टि का उद्घाटन नहीं करती है लेकिन रिपोर्ट में संवैधानिक मूल्यों के साथ सेवा, अहिंसा, स्वच्छता, सहिष्णुता, निष्काम कर्म आदि का उल्लेख है। यह मूल्य बोध उस समय अधिक प्रासंगिक हो जाता है जब आर्थिक मानव के मॉडल के बरक्स मानव के सामाजिक-सांवेगिक विकास को महत्व दिया जाता है। इस नीति में जब भारत को आर्थिक शक्ति के रूप अमेरिका और चीन के सापेक्ष खड़ा करने की प्रतिबद्धता दर्शाई जाती है ठीक उसी

समय उन संकटों पर भी विचार किया जाता है जो एकांगी विकास के फलस्वरूप देश के सामाजिक जीवन में प्रकट हो सकते हैं। इसके लिए भारतीय शिक्षा के कलेवर को संस्कृति और परंपरा से जोड़ने का रास्ता सुझाया गया है। इस सुझाव में समस्या नहीं है समस्या इसके क्रियान्वयन में है। बहुसांस्कृतिक परिवेश में मूल्यों का चुनाव, प्रस्तुति और पोषण चयनात्मक होने पर जो संकट पैदा हो सकते हैं हमें उनके प्रति सचेत होने की जरूरत है। 21 वीं सदी की आवश्यकताओं का उल्लेख निरपेक्ष रूप से नहीं किया है उसमें 'भारतीयता' की सापेक्षता लगा दी गई है। अब देखना यह है कि सापेक्षता से हम कितना दिशा बोध ले पाते हैं? इसी उद्देश्य से इस नीति में अनेक स्थानों पर समग्र विकास, शिक्षा और शिक्षण के भारतीय प्रयोगों का उल्लेख है। लेकिन इनकी व्याख्या या संदर्भ का अभाव है। इससे एक अंतराल पैदा होता है कि हम किन दृष्टियों और प्रयोगों का संदर्भ लें? भारतीय दृष्टि की समग्रता और समावेशन की कसौटी क्या हो? इस नीति में भारतीय ज्ञान परंपरा और कलाओं का संदर्भ लेते हुए विस्तृत ज्ञानराशि का उल्लेख किया गया है। लोक कथाओं, लोक कलाओं और सीखने-सिखाने की लोक विधाओं, शिल्पों, कलाओं, भाषाओं का उल्लेख है। शिक्षा जगत में अनेक ऐसे प्रमाणिक अध्ययन हुए हैं जो स्कूली ज्ञान के सापेक्ष दैनंदिन ज्ञान देशज ज्ञान, या समुदाय निर्मित साझे ज्ञान की महत्ता बताते हैं। यह ज्ञान निश्चित रूप से स्थानीय होगा, सामुदायिक होगा, लोक में लोक द्वारा लोक की शिल्प कला और विज्ञान की प्रचलित विधियों में होगा। यह नीति इस भारतीय ज्ञान को औपचारिक शिक्षा का हिस्सा बनाने की वकालत करती है।

इस नीति में भारत के बच्चों, युवाओं, शिक्षकों लड़कियों के व्यापक चित्र को प्रस्तुत किया गया है। जान पड़ता है कि यह चित्र थोड़ा दूर से खींचा गया है इसलिए इसकी यथार्थ से समतुल्यता कम है। इसमें राज्य की संस्थाओं, योजनाओं, आंकड़ों का उल्लेख है। इनके आलोक में सफलताओं और असफलताओं का आकलन है। राज्य की कार्यपालिका और व्यस्थापिका जैसी संस्थाओं के लिए निर्देश और सुझाव हैं। उनकी भूमिका की समीक्षा है। शिक्षा विषयक नीतियों, अभियानों और कानूनों का उल्लेख है। इनके बीच कई स्थानों पर लंबी छलांग है। प्राचीन भारत के उल्लेख के बाद सीधे 21वीं सदी पर आ जाते हैं। जबकि उसके बीच में भी इसी परंपरा की निरंतरता, उसमें नूतनता विद्यमान रही है। इस कारण आलोचकों को एक अवकाश मिलता है। वे इस पर 'चयनात्मक' होने का आरोप लगाते हैं। इस नीति में एक वैश्विक भारत नजर आता है। यह हमारे समय की सच्चाई है। यह नीति आर्थिक और शिक्षा के क्षेत्र में वैश्विक प्रतियोगिता के प्रति सचेत है। इसमें इस बात का सम्यक मूल्यांकन है कि हम कहां किन क्षेत्रों में पीछे हैं? कैसे आगे जा सकते हैं? इस मूल्यांकन में शिक्षा को धुरी माना गया है। उसके लिए समयबद्ध लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं लेकिन 'आगे जाने' का क्या अभिप्राय है इसका अर्थ अस्पष्ट है। इसे उत्पादकता, साक्षरता और रोजगार के आंकड़ों या वित्तीय आवंटनों के सापेक्ष देखना पर्याप्त नहीं है।

एक पाठक के रूप में मैं जैसे-जैसे रिपोर्ट को पेज दर पेज पलटता गया ऐसी अनुभूति हुई कि वातानुकूलित सभा कक्ष में आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, प्रबंधक, प्रशासक पूरी तन्मयता के साथ देश के सुंदर भविष्य का सपना देख रहे हैं। प्रस्तावित मसौदा इसी सपने का एक रूमानी दस्तावेज है। मेरे मन में बार-बार सवाल आ रहा है कि वह भारतीय जिसकी बोली, भाषा, गणित, विज्ञान, अध्यात्म में 'भारतीयता' है लेकिन उसकी आवाज राज्य के प्रतिष्ठानों जैसे स्कूलों, अदालतों, दफ्तरों तक नहीं पहुंच पा रही है उसकी आने वाली पीढ़ी को क्या यह शिक्षा नीति कुछ दे पाएगी? क्या 'दक्षता' को परिभाषित करने का सांस्कृतिक नज़रिया, बाजारवादी नज़रिए के बीच अपना रास्ता तलाश पाएगा? क्या उच्च शिक्षा शोध के रास्ते मौलिक चिंतन, विश्लेषणात्मक दृष्टि और सृजनधर्मिता द्वारा ज्ञान के 'भारतीय संस्करण' की नींव डाल पाएगी? क्या 'नौकरी' के प्रयोजनमूलक लक्ष्य को 'स्वालंबन' की ताकत से स्थानान्तरित किया जा सकता है? अब जबकि औद्योगिक क्रान्ति के सामाजिक-सांस्कृतिक-पर्यावरणीय (दुष)परिणाम, हमारे सामने हैं क्या आने वाली पीढ़ी अपने समाज के विकास के लिए नया सांस्कृतिक-राजनीतिक-आर्थिक आख्यान गढ़ पाएगी? ◆

लेखक परिचय : सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।
संपर्क : 7057392903; rishabhrkm@gmail.com

बचपन और साहित्य

प्रभात

मेरे बचपन के वर्ष गांव में बीते हैं। गांव में बच्चे के जन्म के बाद छठे दिन की रात जगाने की परंपरा है। उस रात स्त्रियां बच्चे के जन्म की खुशी में गीत गाती हैं। नवजात के कानों में यह पहला संगीत होता है। शिशु को पालने में झुलाते हुए, गोद में खिलाते हुए और सुलाते हुए, गुनगुनाने और लोरी गाने की बड़ी समृद्ध परंपरा हमारे देश में मिलती है।

सुत रह सुत रह बउआ रे
बारी में बोले छौ कौआ रे
आमक गाछी बुलबुल बोले
चौर बोले बाघ धरूआ रे
सुत रह सुत रह बउआ रे[1]

अब सुनने वाले शिशु को तो पता नहीं है कि उसके लिए गाई गई लोरी में उसके आसपास की प्रकृति का बड़ा सुंदर वर्णन किया गया है कि 'बाड़ी में कौआ बोल रहा है, आम की बगिया में कोयल बोल रही है, उधर धारीदार बाघ भी बोल रहा है, तुम सोते रहो, सोते रहो।' लोक कलाविद् कोमल कोठारी कहते हैं कि लोरी के शब्द शिशु के लिए नहीं है, बड़ों के लिए हैं। ठीक कहते हैं। कवि नरेश सक्सेना इसके ठीक उलट बात कहते हैं। और वे भी ठीक कहते हैं-

शिशु लोरी के शब्द नहीं
संगीत समझता है
बाद में सीखेगा भाषा
अभी वह अर्थ समझता है

समझता है सबकी मुस्कान
सभी की अल्ले ले ले ले
तुम्हारे वेद पुराण कुरान
अभी वह व्यर्थ समझता है
अभी वह अर्थ समझता है[2]

हमारे यहां शिशु लोरियों के रूप में बड़ी कोमल और सौंदर्य से सराबोर कविताएं सुनते हुए शैशव से बचपन की यात्रा करता है। उसके घुटनों चलने के दिन एक समय के भारत में कैसे हुआ करते थे, सूरदास की इन पंक्तियों से समझ सकते हैं- 'घुटरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किए।' घुटनों-घुटनों भाग रहा है, मिट्टी में खेल रहा है, मुख पर दही लगा हुआ है। और कुछ दिन बाद जब पां-पां पैयां चलने लगा है तो उसे

देखकर घर की स्त्रियां कितना खुश हैं, इसका अंदाजा राजस्थान के जगरौटी अंचल के इस गीत से मिलता है-

चिड़िया चटाचट बोलै, बधायौ मेरे अंगना में डोलै
सास घर डोलै, ससुर घर डोलै
हमसे ना मुख से बोलै, बधायौ मेरे अंगना में डोलै
देवर घर डोलै, देवरानी घर डोलै,
हमसे ना मुख से बोलै, बधायौ मेरे अँगना में डोलै[3]

उधर पेड़ों में चिड़ियाएं चट-चट बोल रही है, इधर अभी-अभी पैरों पर चलने लगा बच्चा चट-चट डोल रहा है। उसके पैरों से कहां चट-चट की आवाज होने वाली है लेकिन यह मां, दादी या बुआ है जो कुछ बढ़ा-चढ़ाकर बता रही है। जानती है कि एक दिन इन पैरों की धमक भी धरती पर सुनाई देगी।

जब बच्चा एक-दो साल का हो जाता तो उसे पैरों पर औंधा लेटाकर झूला झुलाते। पैरों की पगथलियों पर पेट के बल लेटाकर ऊंचा उठाते। इससे बच्चे में गिरने की आशंका से उपजा भय पैदा होता। दूसरी ओर अधर रहते हुए, न नीचे, न ऊपर होने का रोमांच होता। उसे इस तरह से खिलाने के दौराने कितने ही गीतों और कितनी ही कविताओं का सृजन हुआ है-

चकचक मंडड्यौ घी की दाळ
दीयौ बळै समदर की पाळ
आ रे काळा कागला
हांडी फोड़ कड़ीली चाट

घी से तरबतर रोटी है, घी से छौंकी हुई दाल है। समंदर के किनारे दीपक जल रहा है। काले कौए आ, बचा कुछा खा। जिस हांडी में दाल पकी उसे फोड़-फोड़कर खा। जिस कड़ीली (मिट्टी का पक्का बर्तन) में रोटी सेकी गई उसे चाट-चाट कर खा। वैसे भी अभी कविता में क्या कहा गया है यह बताना न तो कविता गाने वाले बड़े का उद्देश्य है न सुनने वाले बच्चे का। फिलहाल तो ध्वनियों का आनंद लिया जा रहा है। यही वजह है कि इस उम्र के लिए अधिकांश निरर्थक कविताएं भी हुआ करती थीं। निरर्थकता का ही आनंद हुआ करता था-

ऊर-कूर सौड़ैली भड़बट्टौ
सूंतड़ी सटकारा अण्डा बारा बेर
घोटन्यौ टोटन्यौ पच्चीस बेर

अब बच्चा कुछ और बड़ा हो गया है। मां-बाप से चिपके रहना छूट गया है। बाहर बच्चों के साथ खेलना अधिक प्रिय लगने लगा है। आंधियों में खेलते हुए बच्चों के साथ कविता गा रहा है। ये कविता उससे कुछ और बड़े बच्चों ने बनाई होगी, आगे चलकर वह भी ऐसी तुकबंदियां करने वाला है-

आंधी आई, म्हेव आयौ गगन घटा
भूरी बिलाई क हुया मिनकट्या घूघरी बंटा।
आंधी आ रही है, गगन में घटाएं घिर रही हैं, बूंदें गिर रही हैं। ऐसे समय में भूरी बिल्ली ने बच्चे दिए हैं। इस खुशी के अवसर पर क्यों न घूघरी (उबले हुए गेहूं) बंटवायी जाए।

गांव में छह सात साल की उम्र में ही बच्चे घर के काम काज में हाथ बंटाना शुरू कर देते थे। दूसरे शब्दों में उनसे हाथ बंटवाना शुरू कर दिया जाता था। बच्चे अपने से छोटे भाई-बहनों की सार संभाल में मदद करते। छोटे बर्तन में पानी भर कर लाने में मदद करते। छोटी तगारी में गाय-भैंस का गोबर उठाने में मदद करते थे। खलिहानों में छोटी टोकरियों में अनाज ढोने में मदद करते। पशु चराने के लिए जंगल में जाना शुरू कर देते। इन सब कामों में खेल का आनंद भी समाया रहता और कामों को सीखना भी चलता। रात के समय सोने से पहले चूल्हे के कोने या आंगन में बैठकर कहानियां सुनते। दादी, नानी, बुआ, काकी में से कोई ये कहानी सुनाती। कुछ कहानियों को बच्चे बड़ा जिद

कर-करके और फिर-फिर सुनते। इनमें चिड़िया और चुहिया, माली की बाड़ी में खाना ढूंढ़ने जाने वाली कमेड़ी, सियार और ऊंट, सियार और मोर इत्यादि कहानियां हुआ करती थीं।

कुछ और बड़े हो गए नौ-दस साल के तो अब से ज्यादातर समय बाहर ही खेलते। बाहर जो खेल खेलते उनमें संवादात्मक तुकबंदियां हुआ करती थीं-

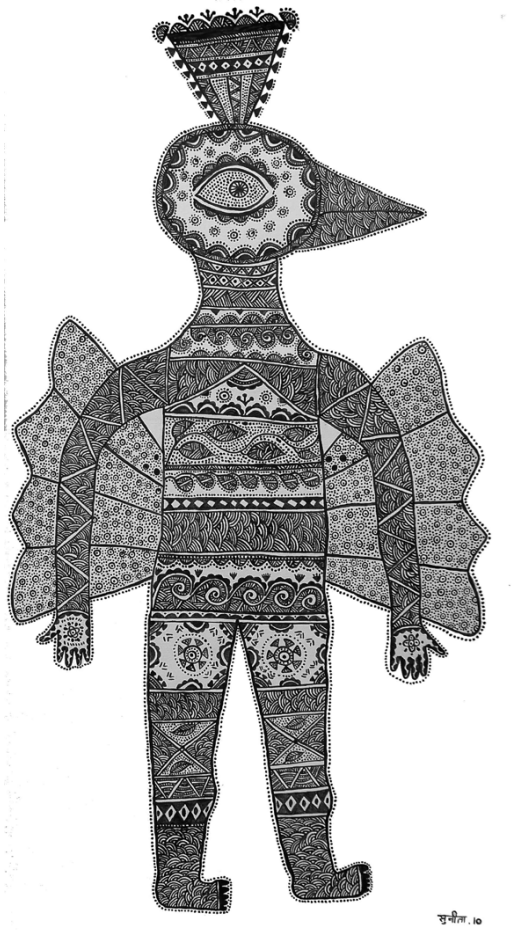

कह रे कुम्हार के
बोल रे सुनार के
तेरी नगरी में किसकी सगाई
और किसकी शादी

मेरी नगरी में
शमा की सगाई
और कबीर की शादी
मिठाई क्या-क्या बनी
लड्डू जलेबी बर्फी

चलो खाते हैं-
अहा लड्डू
अहा जलेबी
अहा बर्फी

संसार में शायद ही कोई बच्चा हो जिसे खेलकर घर लौटने में देरी न हुई हो। जिससे लौटने में देरी की वजह न पूछी गई हो और उसे जवाब न देना पड़ा हो-

भैय्या रे भैय्या कहां रहेन
बेले बबुर तरे खेलत रहेन
बड़की गढहिया में खेलत रहेन
सगरवा से मछरी बटोरत रहेन
लाली बजरिया मा बेचत रहेन
अपन अम्मां का ढूंढ़त रहेन[4]

बताईए अब तक कहां रहे? कुछ देर बबूलों के नीचे, कुछ देर पोखर में खेला। उसके बाद मछलियां पकड़ी। बाजार में मछली बेचने गया और उसके बाद देर तक अम्मां को ही ढूंढ़ता रहा।

हमारे गांव में एक प्रौढ़ जिनका नाम रामसहाय था, वे रातों में अपने कच्चे घर की पौड़ी में चिमनी के हल्के उजास में लोक कथाएं सुनाया करते थे। बड़े, बुजुर्गों के साथ हम बच्चे भी उनकी कहानियां सुनकर देर रात रोमांच से भरे अपने घर लौटा करते थे।

गांव में विवाह और मृत्यु भोज के अवसरों पर आदमी औरतों के समूह गीत गाया करते थे। वृद्धों की मृत्यु का बड़े उत्साह से समारोह मनाया जाता था। किसी की दादी सास मर गई, बुढापे के कष्टों से निजात मिली। यह इतने हर्ष की बात होती थी कि कहा जाता था-

सासू मरगी तौ मरबा दै, डीडी डम पुआ करैंगा रैं।

सास नहीं रही, अच्छा हुआ। मुक्त हुई। इस खुशी के मौके पर पुए बनाए जाएंगे। इस तरह मृत्युओं पर शोक के बजाय उत्सव मनाया जाता था। रात-रात भर आदमी, औरतों के झुण्ड गीत गाते।

विवाहों में दो-दो, तीन-तीन दिन के लिए बारात सजती और दुल्हन के गांव में ठहरती थीं। खूब फुर्सत हुआ करती थी, खूब गीत-नाच होते थे। आदमी, औरतों के समूह आमने-सामने होकर गीत गाते थे। नाचते थे। उनमें बहुत सारे गीत यौन संकतों, इशारों, आमंत्रण आदि विषयों पर भी होते थे। और हम बच्चों को भी वे काफी कुछ समझ में आते थे। बल्कि कभी-कभी तो पूरे के पूरे ही समझ में आ जाते थे। हम बच्चे उन गीतों को सुनते थे, कभी-कभी साथ में गाते भी थे। कोई रोकता टोकता नहीं था। एक बार जरूर एक गीत के लिए टोका गया वह भी इसलिए के मैं उसे बेमौके गांव में गाता फिर रहा था। तो बड़े भाया (पिता के बड़े भाई) ने कहा-'अरे! अरे! इस गीत को मत गाओ।' जब मैं वयस्क हुआ और उस गीत की याद आई तो समझ आया कि कितना ऐंद्रिक, कितना मांसल, कितना 'डायरेक्ट' वह गीत था। और कितना अच्छा भी। लेकिन तब मुझे उसके बोल उसकी धुन अच्छी लगती थी इसलिए गाता था। बीते दिनों एक लोकगीत का मर्म समझने के लिए सुनीता[5] ने उसकी नानी को फोन लगाया। सुनाती ने नानी से ही वह गीत सुना था। नानी ने जवाब दिया- 'हमने तो कभी अर्थ नहीं निकाला। हम तो गाते ही थे तो यह मालूम नहीं कि इसका मतलब क्या है?' लोकगीतों के मर्म हैं कि उन्हें गाने वाले वयस्क, प्रौढ़ और बुजुर्ग भी कभी-कभी उनकी अर्थ-ध्वनियों का उतना आनंद नहीं उठा पाते। वे बस शब्दों और संगीत के सतही मनोरंजन के लिए ही उन्हें हजारों बार गाते हैं। कोई-कोई ही, सौ में से एक ही उनका मर्मज्ञ हो पाता है।

विख्यात लोक गायक धवले जब चौथी कक्षा में पढ़ते थे। पद गाने लगे थे। अपने गांव की जोठ में गाते थे। दंगलों में होने वाले लोकगीतों में, जिनके अधिकांश गायक वयस्क होते हैं और जिनमें लोकगाथाएं, उपनिषदों की कहानियां गाई जाती हैं। बारह-तेरह साल के बच्चे उनकी कच्ची मीठी आवाज के लिए जानबूझकर शामिल किए जाते हैं। हमारे इलाके में लोकगीतों की एक शैली है 'कन्हैया' जिसमें वही रामायण, महाभारत की कहानियां गाई जाती हैं। इसके गायन दल में सौ-सवा सौ लोग शामिल होते हैं। इस दल में चौदह से लेकर चौरासी वर्ष की उम्र के लोग शामिल होते हैं। गांव में से जो भी शामिल होना चाहे हो सकता है। शर्त यही है कि रातों में जागकर गायक दल के साथ नौबत और घेरे की धुन पर अभ्यास करना होगा। मुझे याद है, मैं जब पांचवी में पढ़ता था। दस साल का था। मेरे मामाओं के गांव में जोठ के अभ्यास में शामिल हुआ करता था। उन गीतों की झड़ियों की छाप आज भी स्मृति पर अमिट है।

परभत बगत है गईअ, सखी ओ सब जमना पै न्हा रहीअ
ओ बानै ओढ़े तौ परेला कारे पीरे, वामैं नग जरे जौ जरेवा मोती हीरे
जगमग जगमग होवै घटा कारी लूमै
जमना के तट पै का ढब ते सखी ओ सब घूमै

मुंह-अंधेरे का समय है। काली पीली ओढ़नियां ओढ़े, युवतियां यमुना के किनारे टहल रही हैं। आसमान में काली बदलियों में बिजलियां कौंध रही हैं। अंधकार में युवतियों के गहने चमक रहे हैं।

राजा मोरध्वज की एक कहानी थी। वह बचपन में तरह-तरह से सुनने को मिली। उस पर आधारित एक नाटक खेला गया था। लोक गीतों में वह कहानी गायी जाती थी-

कैसे खैंचू आरे कू फवारों बैरी छूटैगौ
तोसूं नाटूं तौ बलम सत टूटैगौ। (लोक कवि धवले)

राजा मोर ध्वज और उनकी रानी अपने बच्चे को चीर रहे हैं। क्योंकि साधुओं ने भोजन में उनके पुत्र का मांस मांगा है। मर्यादा यह है कि किसी भी सूरत में द्वार से अतिथि भूखा-प्यासा नहीं जाना चाहिए।

मां के मन का व्यथित द्वंद्व इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुआ हैं। मैं अपने बच्चे पर इस आरे की धार को कैसे रखूं, खून की धार बहेगी। ऐसा करने से इंकार करती हूं तो सत्य की हानि होती है।

मेरे मामाओं के गांव में कन्हैया की जोठ इस लोमहर्षक दृश्य को ऐसे गाती थी-

चल रह्यौ रतन कंवर पै आरौ
सगाक-सगाक छूटै फव्वारो, बैरी नांईं तो डटै
धरनी ओ अम्बर, सरग फटै

बच्चे को आरे से काटा जा रहा है। खून का फव्वारा छूट रहा है। इस दृश्य को देखकर धरती, आकाश और स्वर्ग के हृदय फट गए हैं।

बचपन में भी और आज भी कभी इस दृश्य में मुझे हिंसा का अनुभव नहीं हुआ। कहानी जिस तरह से चलती थी, मन राजा, रानी और बच्चे के प्रति करुणा से भर उठता था। दंगल में सौ-सवा सौ लोगों के कोरस में गाए जाने वाले इन बोलों को सुनकर श्रोताओं की आंखों में आंसू आ जाते थे। कई बार बच्चों की कहानियों में खून के छींटे और दाग धब्बे देखकर आधुनिक कथित शिक्षाविद् त्राही-त्राही करने लगते हैं। जबकि बच्चों के चारों ओर खूनी खेल चल ही रहा होता है। अखबार खून से धुले ही होते हैं। फिल्मों में मारधाड़, मारकाट देखते ही हैं। वीडियो में गेम खेलते हुए वे कितने ही आम इंसानों को आधुनिक हथियारों से रौंदते-कुचलते ही हैं। देखने वाली बात यह है कि हिंस्र प्रतीत होता दृश्य कहानी में किस तरह से आया है और कहानी का समग्र प्रभाव क्या पड़ रहा है।

स्त्रियों के गीत अलग तरह के होते थे। उनके भी रसियाओं के दंगल भरते थे। उनके समूह भी अपने सुरीले बोलों से आकाश को गूंजाते ही रहते थे। उपनिषदों और लोक आख्यानों के अलावा वे आधुनिक समय के गीत भी कभी-कभी गा दिया करती थीं। एक दंगल में एक स्त्री को गाते सुना-

भारत की नैया डगमग हो रही, अंगरेजन की आंधी में
म्हारो देस कर्यौ आजाद महातमा गांधी नै।

भारत देश की नाव जब अंगरेजी राज के भंवर में फंसकर डगमग हो रही थी, तब महात्मा गांधी ने कमान संभाली और आजादी का संघर्ष तेज किया।

शोक के अवसरों पर स्त्रियां करुण स्वर में शोक गीत गाती थीं-

गंगाजी के घाट पै सायब साधु होगो हो राम
लिख-लिख चिठिया दे रही बीरा बेगौ सौ आज्यौ हो राम
बेई पगन बीरा आ गयौ भैना क्या दुख पायौ हो राम
दुख तौ रे बीरा भौत सौ सायब साधु होगौ हो राम
होगौ तो भैना हो जाबादै अपनौ का धन लेगौ हो राम

इस शोक गीत में एक युवती के पति के घरबार छोड़कर सन्यासी हो जाने की कहानी है। कैसे घर चलाएगी। अकेली कैसे खेती बाड़ी संभालेगी, खेत में हल, बैल लेकर कौन जाएगा। कितनी आशंकाएं हैं। वह अपने भाई को संदेश भेजती है। भाई सुनते ही बहन के गांव की ओर पैदल चल देता है। आकर बहन के समाचार लेता है। धीरज बंधाता है- पति साधु हो गया तो हो जाने दो। अपने हिस्से का जीवन तो ले ही नहीं गया।

गीत में बड़ों के जीवन की समस्या है, लेकिन बच्चे भी इन्हें सुनते थे। इस तरह के सैंकड़ों गीत सुनते थे। लोक में व्याप्त स्थानीय गीत, संगीत और कथा-गाथाओं के समृद्ध माहौल में पल, बढ़ रहे बच्चों में से अनेक आगे चलकर गायन दलों के अच्छे गायक हो जाते थे। मेडिया यानी मुख्य गायक हो जाते थे। और उनमें से अनेक नई रचनाएं करने लगते थे। लोक साहित्य को ही जीवन समर्पित कर देते थे। माड़, जगरौटी अंचल के लोक कवि गायक धवले मौखिक परंपरा के ऐसे ही एक साहित्यकार हैं जिन्होंने चौथी कक्षा से ही गायक दलों के साथ गाना शुरू कर दिया था। आगे चलकर उन्होंने अपना गायक दल बनाया। पंडवानी गायिका तीजनबाई की तरह उत्तर भारत के कई राज्यों में प्रस्तुतियां दी। उन्होंने सौ से अधिक पदों की रचना की। पद, कथा और काव्य की मिश्रित विधा है। इस विधा में उन्होंने अनूठे काव्य

की रचना की। उनके संगीतबद्ध पद इलाके में उत्साह से सुने जाते हैं। दंगलों में हजारों की तादाद में लोग उनसे कहानियां सुनने के लिए जुटते हैं।

समय-समय पर गांव में नाटक भी खेले जाते थे। गांव में जमीन की धूल में भरथरी (भर्तृहरि) पिंगला का नाटक खेला जा रहा था। पिंगला का अभिनय कर रहा लड़का हमारे साथ स्कूल में पढ़ता था। हमसे चार साल आगे था। गजब का डांसर था। नाटक के बीच में जो ब्रेक आते थे उनमें पिंगला नाचता था। ब्रेक के बाद फिर रानी की भूमिका में आ जाता था। भरथरी पिंगला की कैसी जटिल कहानी जिसमें भरथरी के प्रेम और वैराग्य की जटिल विषय वस्तु। उसे हम बच्चे बड़े चाव से देखते थे। जब से नाटक देखा तब से आज तक नाटक के गीतात्मक संवादों को दोहराया करते हैं-

झूठी गवाही देणे से तू मर ज्यागी बांदी
तनखा ज्यागी छूट फेर के खावैगी बांदी।
छोटे भाई को राज दे दिया आज भरथरी राजा
बन में जाके करै रे तपस्या बजे सत्य का बाजा।

लोक साहित्य पर काम के सिलसिले में उत्तर भारत के विभिन्न अंचलों मुजफ्फरपुर (बिहार), मंडला-डिंडोरी (मध्यप्रदेश), चांपा-जांजगीर (छत्तीसगढ़), गुमला (झारखण्ड), ललितपुर, चित्रकूट, अयोध्या, बहराइच (उत्तर प्रदेश), बागड़, मारवाड़, माळ, जगरौटी (राजस्थान) आदि में घूमते, भटकते विभिन्न आंचलिक भाषाओं में बचपन के लिए साहित्य की उपलब्धता की पहचान करते हुए मैंने यह पाया कि हर अंचल, हर भाषा में बच्चों के लिए लोरियां, शिशु गीत, बालगीत, लोककथाओं की कोई कमी नहीं है। यह सच्चाई है कि बड़ों के साहित्य (लोकगीत, लोककथा, लोकगाथाओं) की तुलना में कम हैं लेकिन पर्याप्त हैं। नमूने के तौर पर बैगा, बज्जिका, छत्तीसगढ़ी, कुड़ुक, अवधी, बघेली, धावड़ी, भीली, इत्यादि भाषाओं में विभिन्न संस्थाओं के लिए बनाई गई किताबें देखी जा सकती हैं।

विजयदान देथा ने अकेले बोरूंदा गांव से इतनी सारी लोककथाएं संग्रहित कर लीं कि बारह खण्डों में ''बातां री फुलवारी'' नामक वृहत संकलन निकाला। उन लोककथाओं में से चुनकर बच्चों के लिए 'अनोखा पेड़'[6] जैसा लोक कथाओं का अनूठा संकलन प्रकाशित किया। एकलव्य, भोपाल ने बच्चों के लिए बुंदेलखण्डी, माळ आदि भाषाओं में लोककथाओं की पिक्चर बुक प्रकाशित की हैं।

लोक संस्कृति और साहित्य के ऐसे समृद्ध माहौल में पलते-बढ़ते बच्चे भी भाषा में रस लेना सीख जाते हैं। उनमें मौखिक साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं को सराहने की क्षमता आ जाती है। समीक्षा करने की क्षमता आ जाती है। वे बता सकते हैं किस गीत या कहानी में क्या अच्छा है और क्या अच्छा नहीं है। कुछ की कहन अच्छी हो जाती। कुछ की गीत कविता जोड़ने की क्षमता अच्छी हो जाती। कुछ अपने समय के रंग लोककथाओं में घुला-मिला देते। कुछ मौखिक साहित्य की परंपरा में इतना डूब जाते कि घर वालों को लगता गृहस्थी को डुबो देगा। उन्हें रोकने की कोशिश की जाती। लेकिन कला का आकर्षण सदा ही ऐसी रोकटोक पर भारी पड़ता रहा है। जो रम गए उन्हें कौन रोक सकता है भला। यह भी गौर करने वाली बात है कि मौखिक साहित्य में सब कुछ अच्छा-अच्छा ही नहीं होता। काफी कुछ फूहड़, सतही कूड़े का ढेर भी होता है। जैसा कि आधुनिक साहित्य की लिखित परंपरा में उससे भी ज्यादा मिलता है और आजकल इंटरनेट पर तो कूड़े-कर्कट की भरमार ही है।

मौखिक साहित्य की परंपरा बचपन को समृद्ध करती थी इसमें कोई संदेह नहीं। मगर अब समय बदल गया है। वह परिवेश निरंतर सिमटता जा रहा है जिसमें मौखिक साहित्य फलता-फूलता है। बाल साहित्य के पुरोधा शंकर के 'ननिहाल में गुजरे दिन' अब हकीकत नहीं रहे गए हैं। अब हम उन्हें किताब के जरिए ही जान सकते हैं। एक खुशहाल बचपन के लिए जिन संयुक्त परिवारों में उत्साह का माहौल रहता था, वे संयुक्त परिवार इस समय में टूटकर बिखर रहे हैं। वह ढांचा कृषि समाज के औधौगिक समाज में रूपांतरित होने की प्रक्रिया में अनवरत ध्वस्त हो रहा है। अंतिम सांसें ले रहा है। परिवार, समाज अब भी है लेकिन उनमें वह सामूहिकता बोध और उससे मिलने वाला सुरक्षा का

अहसास गायब हो गया है। सामाजिक तानेबाने में हुई इस क्षति का असर बड़ों पर तो पड़ा ही बचपन पर और भी गहरा पड़ा। इस प्रक्रिया में बचपन को काफी क्षति पहुंची। बचपन से काफी कुछ छिन गया। ऐतिहासिक बदलावों की प्रक्रिया में जो होना था वह तो हुआ। उसे रोकना संभव भी न था। पुराना टूटा, नया बना। पुराना टूटने के साथ पुराने की जो बुराईयां थीं वे टूटकर नष्ट हो गईं लेकिन पुराने ढांचे की जो अच्छाईयां थीं वे भी नष्ट हो गईं। अकेलापन और अजनबीपन नई बनी सामाजिक संरचना की देन है। और यह बढ़ता जा रहा है। इसका मतलब यह है कि खोए हुए सामूहिकता बोध से मिलने वाली सुरक्षा का कोई विकल्प फिलहाल नई सभ्यता नहीं खोज पायी है।

हमारे देश में बच्चों के लिए यह पारंपरिक साहित्य की धारा के क्षीण होने और आधुनिक साहित्य की क्षीण सी धारा के निर्मित होने का दौर है। मौखिक परंपरा में बच्चों के मतलब का साहित्य खूब रहा है। बच्चों को सम्बोधित साहित्य भी खूब रहा है। लेकिन ऐसा कोई स्पष्ट विभाजन कभी नहीं रहा है कि यह सिर्फ बच्चों के लिए है और यह सिर्फ बड़ों के लिए है। बड़े बच्चों को सम्बोधित साहित्य का रस लेने में शामिल रहे और बच्चे बड़ों के साहित्य का रस लेने में शामिल रहे।

नए समय और सामाजिक जीवन में बच्चों के लिए विकसित हो रहा साहित्य अभी उस तरह नहीं गुंथ सका या गूंथा जा सका है जैसे पुराने ढांचे में मौखिक साहित्य उस समाज का अभिन्न हिस्सा था। ◆

नोट : इस लेख में संदर्भ में उद्धृत कविताओं के अलावा शेष सभी उद्धृत कविता और गीत पंक्तियां राजस्थान के माळ अंचल (करौली में बामनवास, नादौती का क्षेत्र) से हैं।

संदर्भ :

1. बिहार के मुजफ्फरपुर के आसपास के इलाके में प्रचलित लोरी।
2. हिन्दी कवि नरेश सक्सेना की कविता
3. राजस्थान के जगरौटी अंचल (करौली में हिण्डौन के आसपास का क्षेत्र) में प्रचलित लोकगीत।
4. यह अवधी लोकगीत बहराइच के आसपास के क्षेत्र से संकलित किया है।
5. सुनीता राजस्थानी लोक शैली मांडना की ख्यातिप्राप्त चित्रकार हैं, इस शैली में बच्चों की कई किताबें उनके चित्रों से सजी आ चुकी हैं और लेखक की पत्नी हैं। शिक्षा विमर्श के राजस्थान की पाठ्यपुस्तकों पर प्रकाशित विशेषांक के कवर पर और इस लेख के साथ सुनीता के चित्र देखे जा सकते हैं।
6. अनोखा पेड़, रूपायन संस्थान बोरूंदा, जोधुपर से प्रकाशित है।

लेखक परिचय : राजस्थान के जाने-माने युवा कवि हैं। एकलव्य, भोपाल; रूम टू रीड, इण्डिया एवं अन्य प्रकाशनों से बच्चों के लिए कविता एवं कहानियों की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। वर्तमान में शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे हैं।

संपर्क : 9460113007; prabhaaat@gmail.com

सिद्ध अर्थ

एक सामूहिक यात्रा की स्मृतियां

राजाराम भादू

सिद्ध - सोसायटी फोर इंटीग्रेटेड डेवलपमेंट ऑफ हिमालयास मसूरी में कार्यरत संस्था है जिसने ग्रामीण विकास और शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। प्रस्तुत पुस्तक 'सिद्ध अर्थ : एक यात्रा साथ-साथ' संस्था से संबद्ध रहे विभिन्न लोगों की वैयक्तिक स्मृतियों का संचयन है जिसे सितम्बर, 2017 में सिद्ध ने ही प्रकाशित किया है।

लोकतंत्र में नागरिक समाज की पहल पर स्वयंसेवी संस्थाएं-संगठन बनते हैं और राज्य के तंत्र के समानान्तर विकास के किसी पक्ष से जुड़े कार्य करते हैं। कई बार ऐसी संस्थाएं अभिनव प्रयोगों अथवा नवाचारों के माध्यम से विकास प्रक्रिया का कोई मॉडल प्रस्तुत करती हैं। लेकिन इस मॉडल की सफलता तब समझी जाती है जब वह वृहद पैमाने पर क्रियान्वित किया जाए और तब भी परिणाम अपेक्षित मिलें। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में नीति नियंताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे ऐसे स्वतंत्र प्रयोगों और नवाचारों पर नजर रखें और उपयुक्त पाने पर इन्हें अपनी योजनाओं और कार्यक्रमों में शामिल करें ताकि ये अपनी तार्किक परिणति तक पहुंच सकें। इन संस्थाओं-संगठनों की प्रतिष्ठा सामान्यतः इनके द्वारा खोजे अथवा सोचे गये प्रयोगों-तरीकों के वृहद स्तर पर अपनाये जाने से जुड़ी होती हैं। नागरिक समाज के संदर्भ में यह एक उल्लेखनीय तथ्य है।

'सिद्ध' अपने को संस्थाओं की इस प्रचलित पहचान से अलग कर देखता है। यहां हम उन संस्थाओं पर तो विचार ही नहीं कर रहे हैं जिनका उद्देश्य सिर्फ विभिन्न एजेन्सियों से प्रोजेक्ट हासिल कर उनका क्रियान्वयन करना मात्र है। सिद्ध के संदर्भ में महत्वपूर्ण यह है कि उसने अभिनव प्रयोग किए, अपने स्तर पर इन्हे विस्तार भी दिया। लेकिन ये प्रयोग अथवा नवाचार अन्यत्र बड़े पैमाने पर प्रयुक्त किए गए हों ऐसा उल्लेख इस पुस्तक में नहीं मिलता।

'सिद्ध' के संस्थापकों में से एक पवन कुमार गुप्ता अपने आरंभिक लेख में कहते हैं कि सिद्ध में ऐसे बहुत से काम हुए हैं जो प्रायः ग्रासरूट एनजीओ कही जाने वाली संस्थाओं में नहीं होते। इसमें पत्रिका (रैबार) निकालना, सेमिनार, गोष्ठियां इत्यादि तो हैं ही, इसके अलावा हमारे तरीके भी अलग रहे हैं। एक समय हम लोग कहते थे कि जितने पैसे 'सिद्ध' ने संस्थाओं से लिये उससे ज्यादा लौटाए क्योंकि हमारा संस्थाओं की शर्तों और इसके पीछे की राजनीति से मतभेद था। वे बताते हैं कि 'सिद्ध' कोई सोची-समझी योजना के अन्तर्गत नहीं बना। यह तो बस हो गया... 'सिद्ध' की उत्पत्ति बहुत ही सहज ढंग से हुई। उनके अनुसार 'सिद्ध' के प्रशंसक ही नहीं, उसके आलोचक भी यह मानते हैं कि हमने लीक से हट कर कुछ काम किए और आज भी छोटे पैमाने पर कर रहे हैं। एक जमाने में हमें 'विकास विरोधी' कहा जाता था, और इस टिप्पणी पर हमारे साथी खुश होते थे। पवन गुप्ता की मान्यता है कि संस्था एक जरिया होती है या होनी चाहिए

काम करने का। एक समय बाद यह आपको हांकने लगती है। आप उससे बंध जाते हैं। और पैसे की तो अपनी गति होती है। ज्यादा पैसा आपको चलाने लगता है। इसीलिए पवन जी ने काम करने की शैली को सहज रखा और इसे किसी प्रणाली में बांधने की कोशिश नहीं की क्योंकि उनका मानना रहा है कि संवदेनशीलता तथा लचीलेपन और प्रणाली व अत्यधिक नियम कानूनों के बीच एक विरोध होता है। हर व्यक्ति एक अलग व्यक्तित्व, रुझान, कमजोरी, ताकत, जटिलताओं और मान्यताओं का एक अनूठा संयोग होता है। संस्थाओं के नियम अगर कठोरता से सब पर एक समान लागू किए जाएं तो जो जिम्मेदार होते हैं उन पर अन्याय होता है और जो दूसरी तरह के होते हैं वे बड़ी चालाकी से नियमों के बावजूद अपना रास्ता, पतली गली से निकाल लेते हैं। आधुनिकता की 'सब पर एक-सा नियम' वाली दुहाई सुनने में अच्छी लग सकती है और रास्ता भी आसान जरूर कर देती हे पर इसमें भारी नुकसान भी है।

समाजशास्त्री धीरूभाई ने कहा था कि 'सिद्ध' एक संस्था से ज्यादा एक (वैचारिक) आन्दोलन है। पवन गुप्ता इससे सहमति जताते हुए कहते हैं, कोई संयोग ही था कि हमें जल्द ही श्री किशन पटनायक, सादौग टींपोचे जी, धर्मपाल जी, धीरू भाई सेठ, बाबा नागराज और बाद में रवीन्द्र शर्मा 'गुरुजी' जैसों का अनायास ही सहयोग, साथ और (परोक्ष रूप में) मार्गदर्शन मिलता रहा, हमारी समझ में वृद्धि और उसकी पुष्टि भी होती रही। इनमें वे सुनील सहस्त्रबुद्धे, अरुण कुमार 'पानी बाबा', गणेश बगड़िया और रण सिंह आर्य जैसे लोगों को और जोड़ते हैं। वे मानते हैं कि अध्यात्म भी मनुष्य की एक बुनियादी जरूरत है। लगभग ढाई दशक जमीनी कार्य करने के बाद इसे विस्तार देने की बनिस्पत सीमित करने के संदर्भ में मित्रों द्वारा अपनी एक आलोचना पर सहमति जताते हैं कि हमने संस्था निर्माण का काम नहीं किया। उनका तर्क है कि 'छोटे' में जो सघन काम होता है वह 'बड़े' में होना संभव नहीं। ...दरअसल हमें समझना पड़ेगा कि मात्रात्मक और गुणात्मक या कहें भौतिक (दिखाई देने वाली) सोच और अभौतिक (जो गहरे में, न दिखाई देने वाला पक्ष है) में गुणात्मक पक्ष की महत्ता है जबकि वर्तमान समय में कोशिश यह हो रही है कि गुणात्मक पक्ष को मात्रा में परिवर्तित किया जाए, जो अंततः असंभव है। 'सिद्ध' ने हमेशा ही गुणात्मक पहलुओं को प्राथमिकता दी है।

एक संस्था के रूप में 'सिद्ध' की शुरुआत 1989 में हुई। 1991 से देश में आर्थिक उदारीकरण और दुनिया में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। 1996 में 'नई आर्थिक व्यवस्था पर पुनर्विचार : गांधी और उसके परे' विषय पर हुए छह दिवसीय विमर्श को अपने दूसरे लेख में पवन गुप्ता 'सिद्ध' के लिए एक प्रस्थान बिन्दु मानते हैं। जैसा कि उन्होंने लिखा है, उसके तुरंत बाद ही यह फैसला हुआ कि हम अपने को शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित रखेंगे। काम बहुत से करने जैसे हैं पर हमारी सीमाएं हैं और समाज में सार्थक परिवर्तन दो ही कामों से आ सकते हैं - राजनीति और शिक्षा। 'सिद्ध' के कामों को रूपायित करने और दिशा देने में वे आरंभिक संवादों और विमर्शों की निर्णायक भूमिका मानते हैं जो सामान्यतः प्रोजेक्टों के दायरे में नहीं आते। इस क्रम में 'महिलाओं के मुद्दे कितने अपने पराये, आधुनिक विज्ञान और तकनीकी का दर्शन और राजनीति और 'स्थानीयता और क्षेत्रीयता' पर विमर्श तथा 'हिमालय रैबार' पत्रिका का प्रकाशन शामिल हैं। इस संदर्भ में 'गुणवत्ता का मामला', 'बच्चे और परिवार' तथा 'पाठ और विषयवस्तु' पर हुए शोध-अध्ययनों का उल्लेख किया गया है। इस लेख के अंत में भी पवन गुप्ता महसूस करते हैं कि 'सिद्ध' में हम कभी भी मुख्य धारा से मेल नहीं बैठा पाए। अपनी वर्तमान स्थिति से भी वे निराश नहीं हैं, वे कहते हैं... निराशा और हताशा में फर्क है। निराशा के अपने कर्त्तव्य होते हैं।

'सिद्ध' की संस्थापक सहयोगी अनुराधा ने अपने लेख में संस्था के आरंभिक दशक पर फोकस किया है। 'सिद्ध' ने टिहरी गढ़वाल में जौनपुर जनपद के ऐसे गांव में शिक्षा की शुरुआत की जहां कोई स्कूल नहीं था। शिक्षा के साथ ही उन्होंने महिलाओं को संगठित करने का कार्य आरंभ किया। वे लिखती हैं, महिलाओं और गांव समाज के लोगों ने गांव में वर्तमान शिक्षा की प्रासंगिकता पर सवाल उठाकर, आधुनिकता की कड़ी आलोचना करने का साहस किया। सीधे लेकिन पैने प्रश्न जैसे- 'पढ़ा लिखा फिट कहां होता है? अगर गांव का बच्चा शहर में और शहर का बच्चा विदेश में 'फिट' होता है तो हमारे देश और गांव का क्या होगा? इन प्रश्नों ने हमारी मान्यताओं को हिला दिया और हमें सोचने को मजबूर कर दिया। इन प्रश्नों के सहारे ही 'सिद्ध' ने शिक्षा को प्रासंगिक बनाने के कई प्रयोग किए।

आधुनिक शिक्षा ने स्थानीय जीवन से जो अलगाव पैदा किया है उसे दूर करने के लिए लोक ज्ञान को शिक्षा से जोड़ने का एक नया आयाम खुला।

अनुराधा एक और शोध का उल्लेख करती हैं- 'माउंटेन चिल्ड्रन' और बताती है, लेकिन ये अध्ययन किसी कारणवश प्रकाशित नहीं हो पाए। इनमें शामिल था- सभी प्रचलित स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण, जौनपुर क्षेत्र के सभी त्यौहारों व जन्म से मृत्यु तक के होने वाले रीति-रिवाजों का सर्वेक्षण और इस क्षेत्र के मिथक, लोक गाथा और लोक गीतों का एकत्रीकरण आदि। इस अध्ययन करने की प्रक्रिया में 'सिद्ध' की टीम ने बहुत कुछ सीखा।

पवन और अनुराधा- जो 'सिद्ध' के संस्थापक हैं के अतिरिक्त इस संचयन में उनके मित्रों, सहयोगियों और कार्मिकों के 50 से अधिक संस्मरण-आलेख और दो दर्जन से अधिक अवलोकन टिप्पणियां हैं। इनमें स्वाभाविक ही एक किस्म का नोस्टेल्जिया है जो स्मृतियों में प्रायः जाने-अनजाने समाहित हो जाता है। साथ ही एक कृतज्ञता भाव है और सभी ने 'सिद्ध' से जुड़े अपने अनुभवों और संबद्धताओं को व्यक्तिशः सिखाने वाला और समृद्धिकारी पाया है। तो यह 'सिद्ध' का कोई वस्तुपरक मूल्यांकन नहीं है और इस संचयन का यह घोषित उद्देश्य भी नहीं है। 'सिद्ध' द्वारा यह तय किया गया है कि उससे जुड़े सभी लोग वर्ष में एक बार मिलें और संवाद-साहचर्य का आयोजन करें। ऐसे दूसरे मित्र-मिलन में इस संचयन की रूपरेखा बनी और यह सामने आया। इन स्मृतियों के सहारे सिद्ध की कालक्रम से इतर एक बढ़ती-घटती सक्रिय छवि बनती है, जिसमें एक समूह मिलकर कुछ कर रहा है। इस समूह में कोई चला जाता है तो नया आ जाता है और फिर एक ऐसा समय आता है कि ज्यादातर लोग चले जाते हैं। जो रह जाते हैं, वे निराशा के कर्त्तव्यों के तहत अपने स्तर पर कुछ चीजें जारी रखते हैं और बाकी सबसे भी जुड़े रहने के लिए एक महीन धागे की तरह वार्षिक मित्र-मिलन का आह्वान करते हैं। जो दूर चले गये हैं, उनके साथ 'सिद्ध' की स्मृतियां और उसके प्रति सदेच्छाएं हैं।

'सिद्ध' में शिक्षा पर गांधी विचार का निर्णायक प्रभाव था। अपने स्कूलों में वहां अक्षर ज्ञान के लिए भी ग्राम अध्ययन का सहारा लिया जाता था। अपने इतिहास, अपनी पंचायत, अपने निरक्षर माने जाने वाले किसान और कारीगर की पेड़-पौधों और गणित की समझ और अपने ही बीच से ऐसे नायकों के अध्ययन को शिक्षा का आधार बनाया था। सिद्ध पाठशालाओं के शिक्षक ग्राम विकास के अन्य कामों की भी जिम्मेदारी संभालते थे। गांधी जी के अपने समय से लेकर अब तक उनके शिक्षा से जुड़े विचारों को मुख्यधारा शिक्षा में आंशिक सफलता भी नहीं मिली है। यही बात कोई शांति निकेतन और ऋषि वैली के लिए भी कह सकता है। लेकिन इनमें और बुनियादी शिक्षा में एक बुनियादी अंतर है। शांति निकेतन और ऋषि वैली के प्रयोग एक खास और सीमित वर्ग को ही संबोधित थे। जबकि बुनियादी शिक्षा इस देश के व्यापक वर्गों के बच्चों के लिए प्रस्तावित की गई, बल्कि कई बार उसमें शासकीय संसाधन और शक्तियां भी नियोजित की गईं। 'सिद्ध' की पहल अधिक स्वतंत्र और अभिनव थी, फिर भी इसका हाशिये पर रह जाना गंभीर सबक दे सकता है। लेकिन इस संचयन में कार्मिकों के बहुत विश्लेषण नहीं हैं और उनकी स्वीकृतियां तो नितान्त व्यक्तिगत हैं।

कालान्तर में 'सिद्ध' का काम एक गांव से लेकर 40 गांवों तक फैल गया। जाहिर है कि शिक्षा शून्यता में नहीं होती। वह अपने परिवेश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सांस्कृतिक व सभ्यतागत स्थिति से प्रभावित होती है और उसे प्रभावित भी करती है। इस ढाई दशक के काल में 'सिद्ध' ने शैक्षिक कार्मिकों का एक बड़ा समूह तैयार किया। 'सिद्ध' के स्कूलों में पढ़े बच्चे आज सरकारी व गैर-सरकारी संस्थानों में नौकरी कर रहे हैं, उनमें से कई अपने समाज का नेतृत्व करने के लिए तैयार हो रहे हैं। 'सिद्ध' में बच्चे की प्रगति और चुनौतियों को अभिभावकों से साझा किया जाता था।

'सिद्ध' के एक कार्यकर्ता जितेन्द्र ने अपने अनुभव में लिखा है, मनुष्य-मनुष्य का संबंध उतना ही प्राकृतिक है जितना प्रकृति में मनुष्य का अस्तित्व। दर्शन भी कोई स्थिर चीज नहीं है। इस अर्थ में 'सिद्ध' का एक व्यक्तिगत रूप है जो

हर सिद्ध से जुड़े व्यक्ति के द्वारा परिभाषित होता है और एक साझा रूप है जिसे हम सभी को मिलकर परिभाषित करना है। जितेन्द्र ने स्वीकार किया है कि तथाकथित मुख्यधारा का प्रभाव इतना जबर्दस्त है कि आज जौनपुर 'सिद्ध' की विकास की अवधारणा की उलट दिशा में तेजी से बढ़ा जा रहा है। उस मुख्यधारा से हट कर हम कुछ कर पाएंगे, ऐसा मानना ही अपने आपमें एक काल्पनिक दुनिया में जीने जैसा लग सकता है। दूसरा संस्थागत स्तर पर भी प्रश्न उठ सकते हैं कि एक समय के बाद हम खुद एक संस्थान के रूप में भी सामूहिक रूप से कोई दिशा नहीं तलाश पाए और अपने-अपने रास्ते चल दिए। वे शायद ऐसा सोचते हैं कि 'सिद्ध' अब एक इतिहास है।

एक और कार्यकर्ता भुवन पाठक थोड़ा व्यंग्यात्मक लहजे में लिखते हैं, 'सिद्ध' अब धीरे-धीरे विद्या के गूढ विमर्श का केन्द्र बन गया था। उत्तराखण्ड के ग्रामीण परिवेश के युवाओं की जगह शहरी पढ़े-लिखे युवा अधिक आकर्षित होकर आने लगे। ... 'सिद्ध' के महत्वपूर्ण साथी भी... पवन जी की हर बात में हां में हां मिलाने या उसी दिशा में सोचने के अभ्यस्त हो गए। पवन जी को भी यह अच्छा लगता था। कभी-कभी दीदी (अनुराधा-सह संस्थापक) सवाल उठाती तो पवन जी के पास पर्याप्त तर्क होते थे और इसीलिए विपश्यना से लेकर जीवन विद्या तक जो भी विचार आया सब उसमें जुड़ गए। ...जब मैंने यह समाचार सुना कि जगमोहन और जितेन्द्र ने 'सिद्ध' से अलग होने का मन बनाया है। मेरे मन में सीधे यह विचार आया कि स्वतंत्र रूप से सोचना शुरू करते ही यही होना था।

'सिद्ध' के संकुचन की कुछ वजहें तो ऊपर की अभिव्यक्तियों में परिलक्षित हो रही हैं लेकिन कुछ अन्य अभिव्यक्तियों से पता चलता है कि 'सिद्ध' के दीक्षित अधिकांश कार्यकर्ता उत्तरांचल में शुरू हुए अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन में गए जहां का वेतन 'सिद्ध' से कई गुना अधिक था और उसके समक्ष 'सिद्ध' का उस रूप में टिके रहना शायद संभव ही नहीं था।

इस संचयन में रोचक वृतान्त हैं और इनमें भी अधिक वे हैं जिनमें कार्यकर्ता 'सिद्ध' के स्कूलों में ही पढ़े और फिर इनमें पढ़ाने लगे। इसे सुखद ही मानना चाहिए कि इनमें से कई मानते हैं कि 'सिद्ध' जिस दिशा में चल रहा था या चल रहा है वह संभवतः वर्तमान काल की समस्याओं का सबसे सटीक विकल्प है। ◆

पुस्तक : 'सिद्ध अर्थ' एक यात्रा साथ-साथ

प्रकाशक : सोसायटी फॉर इन्टरीग्रेटेड डेवलबमेंट ऑफ हिमालायास, लंढौर केन्ट, मंसूरी-248179 उत्तराखण्ड

लेखक परिचय : 'शिक्षा विमर्श' के संस्थापक संपादक, द्वैमासिक 'संस्कृति मीमांसा' के संपादक, स्वयंसेवी संगठन समान्तर 'सेन्टर फॉर कल्चरल एक्शन एण्ड रिसर्च' के कार्यकारी निदेशक (मानद) हैं।

संपर्क : 9828169277; samantarcsc@gmail.com

हेनरिख हिर्ट जर्मन कलाकार थे। उनका जन्म 1841 ईसवी में हुआ। हिर्ट ने अपनी कला में केंद्रीय विषय के रूप में बच्चों को चुना। बच्चों की मासूम हरकतें विशेषतः बिल्ली, खरगोश एवं चिड़ियों के साथ खेलना, पुस्तकों के प्रति कौतुहल, गुड़ियों के प्रति उनका प्रेम तथा परिजनों के साथ उनका चित्रण यथार्थपरक संवेदनशीलता के साथ किया है। बच्चों के भावों का चित्रण बहुत ही शानदार ढंग से किया गया है। किसी एक कलाकार का बच्चों को विषय के रूप में रखते हुए सृजन के अन्य उदाहरण कम ही हैं। इनका देहांत 1902 ईसवी में हुआ।

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिंटर्स, 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित